प्रकाशक

आदर्श साहित्य संघ

सरदारशहर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण २५००

भाद्र शुक्ला ९

सं० २०११

(५)

"शान्ति के पथपर" सर्वोदय ज्ञानमाला का पांचवा पुष्प है। जिसका उद्देश्य विशुद्ध तत्त्व-ज्ञानके साथ भारतीय और जैन-दर्शनका प्रचार करना है। इसके सुरुचिपूर्ण प्रकाशनमें चुरु (राजस्थान) के अनन्य साहित्य प्रेमी श्री हनूतमलजी सुरानाने अपने स्वर्गीय पितामह श्रीशोभाचंदजीकी स्मृतिमें नैतिक सहयोग के साथ आर्थिक योग देकर अपनी साहित्य-सुरुचिका परिचय दिया है, जो सबके लिए अनुकरणीय है। हम आदर्श-साहित्य-संघ की ओरसे सादर आभार प्रकट करते हैं।

प्रकाशन मन्त्री

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१९—युवक-उद्बोधन	९१
२०—कसौटी	९३
२१—वर्तमान समस्या का समाधान—अपरिग्रहवाद	९५
२२—शान्ति और क्रान्ति का भ्रम	९७
२३—सफल युवक	१००
२४—युग चुनौती दे रहा है	१०१
२५—दर्शन के पवित्रता के दो स्वरूप—अहिंसा और मोक्ष	१०४
२६—सांस्कृतिक विकास क्या ?	१०८
२७—भगवान् महावीर का प्रेरणा स्रोत	१११
२८—सम्प्रदाय क्या करें ?	११३
२९—नारी जागरण	११५
३०—राजस्थानी साहित्य की धारा	११७
३१—संस्कृत ऋषि वाणी है	१२०
३२—सन्तों की स्वागत सामग्री—त्याग	१२३
३३—आत्म विकास और उसका मार्ग	१२६
३४—धर्म का विश्राम	१३८
३५—जीवन-विकास और आज का युग	१४०
३६—नियम का अतिक्रम क्यों ?	१५५
३७—मानव कल्याण और शिक्षक समाज	१५७
३८—जीवन विकास और विद्यार्थीगण	१७४

शान्ति के पथ पर

(दूसरी मंजिल)

अध्यात्मकी लौ जलाइये

आज न केवल भारत ही अपितु समूचा संसार समस्याओं से विकल है। कहीं गरीबी है तो कहीं धनकी रक्षाकी चिन्ता है। जातीय और साम्प्रदायिक संघर्षोंकी धूम है। वर्णभेदका अभिनय अभी विश्वके चित्रपट पर है।

विश्वव्यापी संकटके दौरमें कोई एक देश बचकर नहीं रह सकता। वह भी इस युगमें जबकि दुनियाके एक कोनेका स्वर दूसरे कोनेमें मुखर हो उठता है।

यह वस्तुस्थिति है। फिर भी निष्क्रिय होकर बैठजाना ठीक नहीं। समस्याओंका हल सोचते रहना और करते रहना—यही सयानापन है।

अहिंसा, संयम और अपरिग्रह भारतवासियोंकी पैतृक सम्पत्ति है। आज वे इस सम्पत्तिको भूलकर अपने आपको

दरिद्र और दुखी अनुभव कर रहे हैं। उत्पादन और पूंजीको बढ़ानेमात्रसे ही समस्याओंका हल हो जाए—यह समझना निरी भूल है। भारतकी जनताको इससे सीखना चाहिए कि जिस देशके सामने रोटीका सवाल नहीं है, वह प्राय सब देशों से अधिक व्यग्र है। आत्म सतोष और आत्म-समानताकी भावनाका विकास हुए बिना न तो रोटीका प्रश्न समाहित हो सकता है और न जातीय संघर्षका।

मैं भारतीय जनतासे अनुरोध करूंगा कि वह आध्यात्मिकताको पुरानी पुस्तकोंमे, पुट्ठोंमे ही बंद न रखे। उस पूर्वजोंकी अपूर्व देनको जो चिर विचार प्रवाहकी सूझ और साधनाका सुपरिणाम है, सभाले। प्रयोग कर देखे। वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है। आज बिना प्रयोग किए किसी वस्तु या वाद पर विश्वास नहीं होता।

मैं फिर उसी बातको दोहराता हूं कि थोड़े समयके लिए एक बार अध्यात्मवादका प्रयोग कर देखें। यदि ऐसा किया गया तो मुझे विश्वास है कि भारतसे फिर विश्वको पथ दर्शन मिलेगा।

वर्तमान विषमता का हल

विषमता आँखोंके सामने है, इसके लिए क्या करूँ? साधना है इसका विषयम, हल क्या है? आज सबकी अनुभूतिसे कौन व्यक्ति परे है। केवल मौखिक और कागजी योजनाओंसे कुछ होनेवाला नहीं। योजनाएँ विचारोंमें क्रान्ति पैदा कर देती हैं, पर उन्हें क्रियात्मक रूप दिये बगैर जो कुछ करना है, वह नहीं बनता। जहां स्वार्थों पर टक्कर लगती है, वहां मैं मैं की जगह तू तू हो जाती है। यही तो विषमता है। कहना सहज है परन्तु करना कठिन है। जबतक व्यक्ति-व्यक्तिमें कहनेके पहले करने की प्रवृत्ति न हो तबतक गुत्थी कैसे सुलझे। आन्तरिक विषमता मिटानेके लिए कटिबद्ध होना चाहिए। बाह्य विषमता तो उसके पीछे स्वत मिटनेवाली है।

लोकदृष्टिमें आज अर्थकी सबसे बड़ी विषमता है। इसे मिटाने का प्रयास भी चालू है, पर मिटे कैसे? जबतक सबका ध्यान

एक न हो। आर्थिक वैषम्य समहवृत्तिसे पनपता है। समह, पर-अधिकार कुचल बगैर कैसे हो? स्वच्छ पानीसे कभी हरिया नहीं भरती। धनके लिए मानव औचित्यकी सीमासे परे हट जाता है, क्या यह मानवता है? अन्नकी भूख समाप्त हो सकती है पर धनकी भूख कैसे मिटे? मानव आध्यात्मिकता भूला तभी तो विषमता पनपी। आध्यात्मिकताको भूलनेका अर्थ होता है अपने आपको भुलाना, कर्तव्य अकर्तव्यको भुलाना। अपने आपको भूलनसे बढ़कर और भयंकर भूल क्या हो सकती है। सबकी आंख धन पर टिकी हुई है पर धनमें सुख क्या है, यह नहीं सोचते। सुखके लिए धन इकट्ठा करते हैं परन्तु अर्जनमें कितने कष्ट झेलने पड़ते हैं यह कौन देखे? स्व रक्षासे भी धन रक्षाकी चिन्ता अधिक है क्योंकि धन ही तो सब कुछ रहा! संग्रहवृत्ति उत्तरोत्तर क्या बढ़ रही है, कुछ समझमें नहीं आता।

विषमता जो कुछ है वह है। उसके उपचारकी बात सोचनी है, भूल पर प्रहार करना है। उपचार है आध्यात्मिकताका प्रसार और नियम स्वीकार। भौतिकवादका प्रसार आज बहुत बढ़ा-चढ़ा है। समूचा विश्व उसकी चकाचौंधमें फंसा हुआ है। उसकी बात सुननेको सब राजी हैं, लेकिन अपनी बात कौन सुने-समझे। आज बुरासे बुरी चीजका विज्ञापन होता है। बीड़ी, सिगरेट जैसी निकृष्ट चीज भी विज्ञापन द्वारा बढ़ाई-चढ़ाई जाती है और करोड़ों रुपये पैदा किये जाते हैं। अच्छी चीजका प्रसार करना ही लक्ष्य होना चाहिए। प्रसारके पहले स्वीकार

आवश्यक हो जाता है, अन्यथा प्रसार कोई अर्थ नहीं रखता। नियम स्वीकार न करके प्रसार करना तो अपनको हास्यास्पद बनाना है। आप कहेंगे कि मैं तो कर नहीं सकता—कमजोरी है, तो आपको दूसरोंको करनेके लिए कहनेका क्या अधिकार है? दूसरे कैसे कर सकेंगे, क्या उनमें कमजोरी नहीं?

साम्यवाद कोई विषमताका हल नहीं। वह तो बाह्य उपचार-मात्र है। सब वर्ग सन्तुष्ट न हों, वह क्या साम्यवाद? वस्तुत दुखका कारण अर्थ-लिप्सा है। धनी और गरीब दोनों उसमें लिप्त हैं। मेरी दृष्टिमें दोनोंका रास्ता गलत है। दोनों सन्तुष्ट बन जाय तो शान्ति उनसे परे नहीं। मैं तो दोनोंसे एक बात कहूंगा, धन-लिप्सा छोड, मुझे किसीसे कुछ लेना नहीं। धन आपसे मुह न मोडे, आप उससे मुह मोड़, इसीमें बहादुरी है। शरीर हम न छोड दे, हम शरीरको छोड दें इसी दृष्टिसे जैन दर्शनमें आमरण अनशनका विधान है।

गृहस्थ अपरिग्रही कैसे बने? काम नहीं चलता। इस बहानेसे सचय-वृत्तिमें गड़ जाना ना उचित नहीं। घोर परिग्रही मत बनिये, इसमें कोई लाभ नहीं है। घोर आध्यात्मिक बनिये। शायद गरीब भी भूखा तो नहीं रहता होगा। दुख तो 'क्यों नहीं' का है। उसके कारें है, मेरे क्यो नहीं। गरीब सोचते हैं—हम दुखी हैं, पूजीपति सुखी है। वस्तुत पूजीपति सुखी नहीं, उनकी चर्या देखनेसे पता चलता है। मैं तो सोचता हू उन जितने दुखी शायद गरीब भी नहीं। पग-पग पर उन्हें चिन्ता

रहती है, पूंजी कैसे पचाए ? टैक्ससे कैसे बचें ? पद्‌य न कैसे रखें ? यहांतक कि भोजन भी सुखसे नहीं कर पाते। दुःख संग्रह में है, संग्रह नहीं तो दुःख कुछ चीज नहीं। आप मेरा और मेरे संघका उदाहरण लीजिये। हमारे पास कौड़ी भी नहीं, फिर भी परम सुखी हैं। सुख धनमें नहीं, आत्मामें और सन्तोषमें है।

एक यौगलिक युग था। उनमें संग्रह लिप्सा न थी तो कोई दुःख भी न था। संग्रहके साथ विषमता और संकट बढ़ता है। जब उसका आन्तरिक उपचार नहीं कर पाते तब लोग साम्यवाद की ओर ताकते हैं। पर उससे होगा क्या, यह नहीं सोचते। व्यष्टिकी पूंजी समष्टिमें केन्द्रित होने पर भी होगा क्या ? क्या साम्यवादी राष्ट्रमें संग्रह वृत्ति नहीं है ? दूसरे राष्ट्रको कुचलनेकी भावना नहीं है ? यह कैसा साम्यवाद ? आवश्यकता है— आत्मौपम्यवाद की। जिसमें कोई किसीके अधिकारोंको नहीं कुचलता। हमारी तरह सब सुखी बनना चाहते हैं। अपने सुखके लिए दूसरोंके सुखको न लुटायें, वही व्यक्ति व्यक्तिमें यह भावना होती है। जिसमें कोई किसीका दास—गुलाम नहीं होता। विषमता मिटानेका यही तरीका है। जो सही अर्थमें साम्यवादसे नहीं मिटता। आत्मौपम्यवाद सदाचार और संयम की भित्ति पर टिका हुआ है। आर्थिक साम्य होने पर भी बुराइ नहीं मिट सकती जो कि सदाचार व संयमसे मिट सकती है।

संयमी बननेका यह अर्थ नहीं कि दरिद्री बनो। त्यागी बनो, धनके लिए त्राहि-त्राहि मत करो, धनको ठुकराओ। धनी और

दरिद्री सब धन लिप्सु हैं, त्यागी नहीं। विशेषत चोटीके नेताओं को त्यागी बनना अत्यावश्यक है। राष्ट्रकी बागडोर उनके हाथम है, उनके व्यक्तित्वका बहुत असर पड सकता है। वक्तव्योंम नहीं आचरणमें सादगी होनी चाहिए। आप अट्टालिकाओंम मौज करें और लोगोंसे कहें शोषण मत करो। यह मत करो, वह मत करो, शराब बन्द करो, (खुद पीते हैं), इससे क्या हो सकता है। म तो सबसे यही कहूगा पूजीपति नहीं, मानव बनो, दरिद्री नहीं, त्यागी बनो। सुख धनमें नहीं, दु ख निर्धनताम नहीं, सुख सन्तोषमे है, दु ख लिप्साम है।

विश्वबन्धुत्व और अध्यात्मवाद

आज विश्वमैत्रीकी आवश्यकता है। मनुष्यके प्राय किसी न किसीके साथ मैत्री तो होती ही है, परन्तु सबके साथ मैत्री-प्रेम होना चाहिए, चाहे वह विरोधी ही क्या न हो। प्राणीमात्र के साथ मेरी मैत्री है, किसीके साथ विरोध नहीं—यही भगवान् महावीरका दृष्टिकोण था। ससार आज सत्रस्त है। विश्वबन्धुत्व की भावनाका जन जनम प्रसार होना चाहिए।

वस्तुत मनुष्य मनुष्यका शत्रु नहीं होता। मनुष्यको ही नहीं, अपितु प्राणीमात्रको ही मित्र समझना चाहिए। बसतमे मनिज्ज छपिकाए जीवमात्रको आत्मतुल्य मानना चाहिए। मानवको शत्रु मानना बुद्धिकी कमी है। सजातीय तत्त्वोंमे विरोध नहीं होता। विरोधका आधार विजातीय तत्त्व है। दूध और चीनी मिलकर एकरूप बन जाते हैं, व सजातीय हैं। मानसिक भ्रांति

के कारण मनुष्य मनुष्यमें विरोधका वातावरण पनपता है। मद्यपानसे व्यक्ति उन्मत्त बनता है, पर मानसिक भ्रान्तिमें तो उन्मत्त न बने।

आजका युग आदर्शोंकी बात करता है, उन पर चलना नहीं। आदर्शोंसे दूर हटता जा रहा है। मानव आज भगड़नेमें व्यस्त है। आपसी कलह, वैमनस्य, ईर्ष्या प्रलयकालका चित्र सामने ला रहे हैं। प्रलयकालमें मैत्री, प्रेम नामकी कोई चीज नहीं होगी। उस समयमें जो होनेका है वह होगा किन्तु वह अभी क्यों हो रहा है।

साम्प्रदायिक कलह भी आज कम नहीं है। एक की दूसरे पर वक्रदृष्टि है। मुझे खेद है कि आज जैन सम्प्रदाय भी कलह की लपटमें झुलस रहे हैं। सम्प्रदाय पृथक् हो सकते हैं, विचारों में मतभेद हो सकता है पर मतभेदके कारण परस्पर भगड़ना, एक दूसरेकी छींटाकशी करना तो उचित नहीं। आखिर मानते तो सब भगवान महावीरके आदर्शोंको ही हैं। भगवान् महावीर के अनुयायिओंमें सहृदयता और बन्धुत्वकी भावना होनी चाहिए। एक दूसरेका सहयोगी बनकर व्यापक दृष्टिकोणसे सत्य अहिंसाका प्रसार करना चाहिए। आज कलह-वैमनस्यकी आवश्यकता नहीं, संगठन, प्रेम व सहयोगकी आवश्यकता है। सहयोगके बदले रोड़े अटकाना तो सर्वथा अक्षम्य है।

मैं यह भी स्पष्ट कह देता हूं कि साम्प्रदायिक प्रश्रय देनेवाले सम्प्रदाय खतरेसे परे नहीं।

कालिमापूर्ण है। जनताके समक्ष भगवान् महावीरके आदर्श रखनेके बदले व स्वय भूल जायगे, विश्व मैत्रीके बदले शत्रुताको मनपायगे। सगठन और नेतृत्वके अभावमे कुछ भी नहीं कर पायगे। वैमनस्यको कतई भूलकर सहृदयताको प्रश्रय देना है।

मनुष्यका शत्रु मनुष्य नहीं, मनुष्य सजातीय है। अहित करनेवाला शत्रु होता है। नमि राजर्षिके उदाहरणसे शत्रुका चित्र आपके सामने खिंच जाता है। नमि मिथिलाके राजा थे। एक समय वे दाह-ज्वरसे अत्यन्त पीडित हुए। सभी चिकित्साएँ उन्हें रोग विमुक्त करनेमे असफल रहीं। अन्तमें सन्यास लेकर तपोवनमे तपस्या करने लगे। एक समय मुनि और इन्द्रके बड़े दिलचस्प प्रश्नोत्तर हुए। इन्द्रने कहा—राजर्षे! अभी आपकी नगरी शत्रुओंसे सकुल है। शत्रु बलवान् हैं, पहले उन्हें परास्त करें फिर प्रव्रजित बनें। राजर्षिने कहा—दश लाख योद्धाओंको जीतनेवालेकी अपेक्षा अपनी आत्माको जीतनेवाला महान् विजेता है। कारणकि दुष्प्रवृत्त आत्मा ही सबसे बडा शत्रु है।

नैतिकताका पुनर्निर्माण या पुन: शस्त्रीकरण

विषय से ही प्रश्न उठता है कि—

क्या कभी मनुष्य-समाज पूर्ण नैतिक था ?

था तो बाद में अनैतिक क्यों बना ?

अगर नहीं था तो पुनर्निर्माण क्यों, निमाण होना चाहिए।

व्यवहारसे नैतिकता का कोइ सम्बन्ध है क्या ? है तो क्या ?

क्या मनुष्य समाज पूर्ण नैतिक बन सकता है ?

हां, तो कैसे ?

आज मुझे इन पर कुछ विचार करना है।

पूर्ण नैतिक या अपूर्ण नैतिक होता है, इसमें मुझे

एक समय में था। सचाई,

प्रामाणिकता । 'प्राण जाय पर

यह नीति थी। आचार के आगे प्राणों तक का मूल्य नहीं था। उसम कमिया नहीं थीं, यह म नहीं मानता, किन्तु हां, वह नीति को प्रधान मानता था। वह आजकल के लोगों की तरह नैतिकता को असम्भव या अव्यवहार्य नहीं कहता था। आज ता लोगा की मूल श्रद्धा ही हिल उठी है। इसका पहला कारण है परतत्रता, दूसरा कारण है श्रद्धा म कमी। इतिहास मे न जाय, वतमान कारण खोज तो तीसरा कारण मिलता है—जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की अपूर्ति। आज मानव रोटी और कपड़ा जुटाने म अपने को असमर्थ पा रहे हैं। दाशनिक कारण और भी हो सकते हैं किन्तु मैं अभी व्यवहार की भूमिका पर बोल रहा हू।

परिस्थितियों की जटिलता भी कम कारण नहीं है। कोई एक अहेतुक चोर बनता होगा, अधिकांशतया परिस्थितियों के वश बनते हैं। परिस्थिति का सहारा मिल जाता है, बुराइ हावी हो जाती है। भगवान् महावीर ने कहा है—"अतुट्ठि-दोसेण दुही परस्स लोभाविले आययइ अदत्त।" चोर बनने मे अतुष्टि की प्रेरणा है। वह स्थिति न हो तो कोइ चोर क्यो बन? वस्तुओं के अभाव और महँगाइ ने सत्य निष्ठा के आस पास रहनेवाले को रिश्वत और चोर बाजारी की ओर खींचा है।

मानव की अनैतिकता को मिथ्या दृष्टिकोण, भौतिक आकांक्षाएँ और परिस्थितियाँ उद्दीप्त करती हैं। इसलिये प्रत्येक युगमें

अनावि के विरुद्ध नीति का आन्दोलन आवश्यक है। प्रकृति-भ्रष्ट मानव को विकृति से हटा, प्रकृति म लाना पुनर्निमाण नहीं तो क्या है ? गीता का यह श्लोक—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मान सृजाम्यहम् ॥

इसी तथ्य को रूपक की भाषा मे बताता है।

धर्म पर जिन्हें श्रद्धा नहीं, जो सिर्फ व्यवहार की भूमिका पर चलना चाहते हैं उनके लिए भी नैतिकता आवश्यक है। इसके बिना व्यवहार शुद्ध नहीं रह सकता। समाज की रचना का मूल ही नैतिकता है। अशोषण, न्याय और दूसरे का अनपहरण यही तो समाजकी नैतिकतामय नींव है। साफ कहें तो व्यवहारमें नैतिकता का सम्बन्ध इसलिए है कि उसके बिना समाज नाम की वस्तु टिक ही नहीं सकती।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रयास करने पर मानव समाज पूर्ण नैतिक बन सकता है ? मेरी दृष्टि मे सवाल पूर्ण-अपूर्ण का नहीं। नैतिकता की मात्रा अधिक हो सकती है। कम से कम अनैतिकता का एकछत्र साम्राज्य तो न हो। अन्यथा अनैतिकता नैतिकता के सर्वनाश की ओर बढेगी। अन्याय के विरुद्ध न्याय का सघर्ष न चले, यह दुनियाँ का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या हो सकता है ? पुनर्निमाण के रास्ते ये हैं—

१—नैतिकता के प्रति श्रद्धा जागृत की जाय, आत्मशक्ति का भान कराया जाय।

२—नैतिकता श्रद्धा से सम्भव है, व्यवहार्य है, सब पदार्थों से पहल और सबसे अधिक उपादेय है—ऐसा वातावरण बनाया जाय।

३—राजनीति म नैतिकता को प्राथमिकता दी जाय। राज्य-सत्ता को किसी धर्म से जोडना अनुचित है। सिर्फ उस पर सदाचार का अकुश रहे।

४—सग्रह को घृणा की दृष्टि से देखा जाय।

सम्भव है इसके स्थान पर जनसाधारण 'आर्थिक वैषम्य मिटाया जाय' इसे अधिक पसन्द करें। किन्तु मैं डाली को काटने की अपेक्षा मूल का उखाड फेंकने की प्रणाली को अधिक उपयुक्त मानता हूं। जैनदर्शन म सम्यग् दृष्टि और चारित्र्य इनको मोक्ष-माग बताया गया है। जैन ही क्या प्रत्येक धर्म इन्हें स्वीकार करता है।

'आर्थिक वैषम्य मिटाओ' इसकी जगह हमारा विचारमूलक प्रचार-कार्य यह होना चाहिए कि—'आर्थिक दासता मिटाओ।'

जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ रोटी, पानी, कपडा, मकान, दवाइ आदि-आदि के साधनों को मैं आर्थिक दासता नहीं मानता। आर्थिक दासता वह है कि अन्याय के द्वारा धन का सग्रह किया जाय। न्याय के द्वारा धन का सग्रह हो ही नहीं सकता। गृहस्थों के लिए अपरिग्रहव्रत का यह अर्थ नहीं

कि भूखे मरो, उत्पादन या क्रय विक्रय मत करो। वह यह है कि दूसरों का अधिकार छीन कर, शोषण कर प्रामाणिकता और विश्वासपात्रता को गँवाकर एक शब्द में अन्याय के द्वारा धन सग्रह मत करो। यह तब होगा जब इच्छा हटेगी, अपरिग्रह व्रत बढेगा। अपरिग्रह व्रत का यह ध्येय नहीं कि जीवन की आवश्यकताएँ पूरी न हों, उसका ध्येय है—जीवन विलासी न बने।

बुराई परिस्थितियों की दासता से मानसिक दासता में अधिक है। पचास रुपया मासिक वतन पानेवाला कहे कि रिश्वत के बिना काम नहीं चलता, इसे छोड़िये पर क्या कई हजार रुपये मासिक वेतन पानेवाले रिश्वत नहीं लेते? यह क्या आर्थिक दासता नहीं? करोड़पति पदार्थों में मिलावट और चोर बाजारी करता है क्या उसे रोटी की कमी है? नहीं यह आर्थिक दासता है।

आपके सामने एक ही मार्ग—अध्यात्मवाद प्रधान नीति है। दूसरी नीति नहीं दीखती। चैतन्य के साथ सुख का अनुभव चाहते हैं तो अध्यात्मवाद के रास्ते पर आइये और आर्थिक दासता के विरुद्ध लड़ाई प्रारम्भ कीजिये।

अगर यह पसन्द नहीं है तो कोई दूसरा मार्ग, आप चाहें या न चाहें अनिवार्यत आयेगा। मेरा जहाँ तक ख्याल है—अनुभव है, पूजीपति और सत्ताधारी मौलिक परिवर्तन कर नहीं सकते।

परिवर्तन नहीं करने यह उनकी इच्छा है, किन्तु परिवर्तन नहीं होगा यह उनकी इच्छा कहाँ तक चलेगी। यह कहना जरा कठिन है।

आप अमीर को गरीब और गरीब को अमीर बनानेकी मत सोचिए। दोनों को अपरिग्रहवती बनाने का मार्ग निकालिए।

गरीब को अभाव सताता है। अमीर को भाव का संरक्षण सताता है। दोनों व्रती बन जाएँ तो सताने जैसी बात ही नहीं रहती।

एक व्यक्ति ने मुझसे कहा—आज का मानव नास्तिक बनता जा रहा है। उसे न परलोक में श्रद्धा है न धर्म कर्म में। फिर आपकी नैतिकता की बात कौन सुनेगा? मैंने उससे कहा—आप यह क्या मानने लगे कि नैतिकता परलोक में विश्वास रखने वालों के लिए ही है। मेरी नैतिकता तो परलोक को न माननेवालों के लिए भी है। जीवन के क्षण क्षण में उसका उपयोग है। और इसलिए है कि 'मानव समाज देव समाज न बन सके तो कम से कम दानव समाज तो न बने।

अहिंसक क्रान्तिको मनुष्य समझ ले तो कल्याण है। हिंसक क्रान्ति को आमन्त्रण देने को कटिबद्ध है तो इसका कौन क्या करे? खैर यह तो प्रासंगिक चर्चा है, नैतिकता तो सबके लिए आवश्यक है चाहे कोई भी वादी हो। वह तो नास्तिक से बड़े नास्तिक के लिए भी आवश्यक है। नैतिकता के पुनर्निर्माण की आवश्यकता प्रत्येक के लिए है। सामाजिक वाद

परिवर्तनशील हैं—आते हैं, चले जाते हैं। मैं इसे कोई गम्भीर समस्या या अनहोनी बात नहीं मानता। गटार सवाल के लिए इतना उलझना मुझे अच्छा नहीं लगता। जिसको जो रास्ता पसन्द होता है, वह उसे अपनाता है। मुझे उसमें कोई खास आपत्ति नहीं।

मुझे आपत्ति वहां है जब कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की यही सीमा बन जाए। रोटी जीवन की आवश्यकता है, मूल्य नहीं। मूल्य है नैतिकता। रोटी का प्रश्न मेरे लिए कोई प्रश्न ही नहीं किन्तु यह नैतिकता के पुनरुत्थान में बाधक बन रहा है इसलिये उस पर भी कुछ न कुछ ध्यान चला जाता है। वास्तव में मैं तो गरीबी और अमीरी दोनों की प्रतिष्ठा नहीं चाहता। मैं तो सद्गुण की प्रतिष्ठा चाहने वाला हूँ।

नैतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन से कुछ नहीं होता या निराश होने की जरूरत नहीं। अब तक नहीं जागने वाला आज जाग सकता है। सम्भव है अहिंसक तरीके से न चेतने वाला हिंसक क्रान्ति के परिणामों को देखकर चेत जाए। मान लो कोई न भी चेते तो हम निराश क्यों? हमारा प्रयत्न सही है, हम भूल पर तो हैं ही नहीं। हम तो उनके न चेतने पर आश्चर्यान्वित नहीं होना चाहिए। जैसे एक कवि ने कहा है—

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम्॥"

समाज की विशुद्ध भूमिका अध्यात्मवाद के लिए और अधिक प्रशस्त बन सकती है। हमारा आन्दोलन प्रत्येक स्थिति में

विश्वसनीय है। इसलिए किसी भी आन्दोलनकारी को निराश होने की आवश्यकता नहीं।

अब मैं उस प्रसग पर आ रहा हू, जो इन सबका पोषक है। शिक्षापद्धतिका पुनर्निमाण किया जाय यानी वह उक्त भावनाओं को—नैतिक मूल्यों को विकसित करनेवाली बनाई जाय। जब तक आप भावी सततिको नैतिकता का मूल्य नहीं समझा सकेंगे तबतक उक्त बातें सिद्धान्तकी सीमाको तोड, व्यवहारके स्तर पर नहीं आयेंगी और न भौतिकता का आकर्षण घटेगा।

जब एकमात्र भौतिकता का ध्यान रहा है, कमियाँ कहाँ जा पायगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। जैसे कहा है न—

> *"विषयान् ध्यायत पुस , सगस्तेषूपजायते।*
>
> *सगात् सजायते काम , कामात् क्रोधोऽभिजायते॥"*

मैंने आजादी के दिन एक प्रवचन म कहा था कि लोग स्वतन्त्र होकर भी अनुभवहीन गुलामी से जकड़े हुए हैं। रोग तो यह है कि वे इस गुलामीकी गुलामी समझ ही नहीं रहे हैं। मैंने एक पद्य कहा था।

> इस अनुभव हीन गुलामी को, क्या मानव कभी मिटायेंगे?
>
> निजकरसे तोड़ मानवता, क्या मानव फिरसे पायेंगे?

मैंने सक्षेप में कुछ बात कही हैं। उनसे कुछ जिज्ञासा बनी, लोगों ने उन्हें समझा तो आशा है कि यह नैतिकता का कार्य आगे बढ़ेगा। विश्व का कल्याण होगा।

जीवनकी न्यूनतम मर्यादा

समयका प्रभाव या बौद्धिक चिन्तनका अधिक विकास कहना चाहिए कि लोग अणुव्रत आचरणको कठोर साधना अनुभव करते हैं। मत भूलिए—कठोर साधना महाव्रतका आचरण है, जिसमें जीवन जीनेके लिए नहीं किन्तु आत्माके लिए चलता है। अणुव्रत तो जीवनकी न्यूनतम मर्यादा है। चाहे मानवताकी आदि रेखा कहिए। पशुताका अन्त होता है, वहां से मानवता शिशु होकर चलती है। उस भेद-रेखाको लोग विवेक कहते हैं। विवेकका फल क्या होना चाहिए—आप स्वयं सोचें। विवेकसे तीन बातें फलित होती हैं—ज्ञान, त्याग, और स्वीकार।

पशु खाता है, मनुष्य खाता है। खाने तक समानता है किन्तु इससे आगे दोनों एक नहीं हैं। पशु खाकर केवल शरीरकी

मांगको पूरा करता है। अणुव्रत क्या है ? मानवताका यौवन है या बचपन ? अगर इसे सार सम्हाल कर नहीं रखा तो मानवता कैसे जी सकेगी ? मुझे इस प्रश्नका समाधान आप लोगोंसे लेना है। मनुष्यके खानेके पीछे विवेक होता है—वह क्यों खाये, क्या खाये, कैसे खाये आदि आदि अनेक प्रश्न शुरु हुए होते हैं।

इसी विवेकने मनुष्यको चलाना सिखाया है तो रुकना भी। कार्यमात्र शरीरकी आवश्यकता है। शरीर रहता है तबतक प्रवृत्ति नहीं रुकती, किन्तु विवेकशील होनेके नाते मनुष्य इतना सोचे बिना कोई पैर न रखे कि उसे कमसे कम इस कार्यसे कहाँ तक बचना है।

अणुव्रत विचारधारा बतलाती है—अनिवार्य हिंसाके बिना शरीरकी मांग पूरी न कर सको तो कमसे कम संकल्प हिंसा, अनर्थ हिंसासे तो बचो। ब्रह्मचारी न रह सको तो कमसे कम विलासी तो मत बनो। अपरिग्रही न बन सको तो कमसे कम शोषण तो मत करो। भाषाका पूर्ण संयम न कर सको तो कम से कम अनर्थकारी भाषा तो मत बोलो। अस्वामीक वस्तुके लिए बिना न रह सको तो कमसे कम सस्वामीक वस्तुको तो बिना दिए मत लो।

गीताकी अद्वैत दृष्टि और संग्रह-नय

गीताको मैं अद्वैत दर्शनका परिणत रूप मानता हूं। यद्यपि इसके आधार पर विरोधी दर्शन द्वैत और अद्वैत दोनों चलते हैं फिर भी इसके सम्पादक या प्रणेता व्यास ऋषिकी मूल भावना अद्वैतको ही लक्ष्य मानकर चलती है।

जैन-साहित्यमें भगवान् महावीरके दृष्टिकोणकी सही व्याख्या देनेवाले शास्त्रोंमें 'आचारांग' पहला है। उसमें संग्रह दृष्टिका प्राचुर्य है। जैन-दर्शन एकान्ततः न अद्वैत है और न द्वैत। व्यवहार नय या व्यक्तिकी दृष्टिसे पदार्थ अनेक हैं। संग्रह नय या जातिकी दृष्टिसे सत्ता एक है। यह 'ऐक्य' स्वाभाविक ऐक्य नहीं किन्तु समानताकी चरम स्थितिसे निकलने वाला ऐक्य है।

संग्रह दृष्टिका निरूपण करते समय जैन अद्वैतका समर्थक लगता है। जे एगं जाणई से सव्वं जाणई —जो एक को

जानता है, वह सबको जानता है। इसमे परमार्थ सत्य—ब्रह्मैक्यवाद और व्यवहार-सत्य—नानात्व या प्रपञ्च इन दोनों की झलक मिलती है।

"सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः ॥"[1]

योगयुक्त आत्मा सब भूतोंमें एक आत्माको और एक आत्मा में सब भूतोंको देखता है—गीताका यह तत्त्व उससे भिन्न नहीं लगता।

"यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति ।"[2]

जो मुझे सब जगह देखता है और मुझमे सबको देखता है—इसमें जो एकताका प्रतिपादन है—

'तुमांसि नाम स चेव, जं हतव्वांति मन्नसि"—

जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है—वह इससे भिन्न स्वरूपवाला नहीं लगता।

जैन सूत्रोंमें एक आत्मा (एगे आया) एक लोक (एगे लोये) आदि आदि एकतापरक अनेक पाठ मिलते हैं। ये सब 'संग्रह-नय' की दृष्टिसे लिखे गये हैं।

संग्रह-नयकी दृष्टिसे गीताको पढने पर मालूम होता है कि गीताके अद्वैत और जैन विचारमें बहुत सामञ्जस्य है। कई वर्षों

१—गीता ६ २९
२—गीता ६ ३०

पहले मधुपुर (बंगाल) से एक सन्यासी भारती कृष्णवीर्थ सरदारशहरमें मेरे पास आये। उन्होंने मुझे बताया कि वे जैन दर्शनको अद्वैतका समर्थक मानते हैं। वे यह तथ्य—"जो एकको जानता है, वह सबको जानता है"—इस सूत्र-वाक्यके आधार पर प्रस्तुत करते थे। मैंने उन्हें बताया कि यदि आप सब दृष्टियोंसे ऐसा न मानें तो ठीक है। एक दृष्टिकी सीमा तक जैन दर्शन इसका समर्थक है। समग्र दृष्टिमें वैसी बात नहीं।

दूसरी घटना दिल्ली विश्वविद्यालयकी है। मैंने वहां 'जैन-दर्शन' पर एक वक्तव्य दिया। वक्तव्य समाप्त होने पर प्रश्नोत्तर चल रहे थे। एक व्यक्ति पूछा—आपने जो कुछ कहा, वह वेदांत से विरोधी नहीं लगा तो क्या वेदान्त और जैन दोनों एक हैं?

इन प्रसङ्गोंसे आप समझ सकते हैं कि दृष्टि अभेदमें भिन्न भिन्न दर्शनोंकी स्थिति कैसी बनती है।

इसके सिवाय गीताके अधिकांश उपदेश, यौगिक व्यवस्था और साधनाके सूत्र जैन विचारोंसे तात्त्विक साम्य रखते हैं, कुछ एक देखिये—

१—"आत्मैव ह्यात्मनो मित्र-मात्मैव रिपुरात्मनः।
उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्॥"

(गीता ६-७)

आत्माको उठाओ, उसे गिरने मत दो। आत्मा स्वयं ही अपना मित्र और वही अपना शत्रु होता है। जैन सूत्रोंमें लिखा है—

"अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाणय सहाणय ।
अप्पा मितमामित्त च, दुपट्ठिय सुपट्ठिय ॥"
(उत्तराध्यन २०)

सुख दुखका कर्ता आत्मा है। आत्मा ही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु। उसे उठाओ, गिरने मत दो।

यौगिक व्यवस्थाए २—"समत्व योग उच्यते ।" (गीता २-४८)
समभाव ही योग है। भगवान् महावीरने कहा है— समियाए धम्म (आचाराग ५— -२) समता ही धर्म है। समाहित, एकाकी, यतचित्तात्मा आदि आदि शब्द प्रयोग घनिष्ठ सपर्कके सूचक हैं।

साधनाके सूत्र ३—गीतामें श्रद्धाको मुख्य स्थान है—
"श्रद्धामयोऽय पुरुष, यो यच्छ्रद्ध स एव स ।
यह पुरुष श्रद्धामय है—जो जहा श्रद्धा रखता है, वह वही बन जाता है। यही तत्त्व प्रज्ञापनामें जैन दर्शन स्वीकार करता है—
"जल्लेसाइ दव्वाइ आदिआति तल्लेसाइ परिणमति ।"
श्रद्धालु ज्ञान पाता है—इस तत्त्वको श्रद्धावाल्लभते ज्ञानम् इन शब्दोंमें गीता और सड्ढी आणाए मेहावी (आचाराङ्ग) इन शब्दोंमें जैन-सूत्र बताते हैं।

कृष्ण कहते हैं— मामेक शरणव्रज मेरी शरणमें आओ और भगवान् महावीरकी वाणीमें "मेरा धर्म मेरी आज्ञामें है" तत्त्वत इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं।

आप ज्यों ज्यों आगे चलेंगे—समन्वय करते चलेंगे त्यों त्यों दर्शन धाराकी भेद दृष्टि टूटेगी। अभेद-दृष्टिका विकास होगा।

मैं गीता प्रेमियोंसे यह कहना चाहूंगा कि वे गीता के गूढ़ भावोंको सही रूपमें समझें। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः —अपने धर्ममें मरना अच्छा है किन्तु पर-धर्ममें जाना अच्छा नहीं—यह और ऐसे ही दूसरे अनेक श्लोक हैं, जो ठीक नहीं पकड़े जाते। फल यह होता है कि आपसी विवाद बढ़ चलता है। कई स्वार्थी व्यक्ति स्व धर्म और परधर्मको—स्व सम्प्रदाय और पर-सम्प्रदाय बताकर लोगोंको भ्रममें डाल देते हैं। आत्म धर्म या समाज व्यवस्थाके पोषक तत्त्वको व कट्टरपन्थी बनानेका शस्त्र बना डालते हैं। वास्तवमें इसका अर्थ है कि क्षमा, सत्य, सतोष आदि आदि जो आत्म धर्म हैं, उनकी साधनामें मर जाना अच्छा है। पर-धर्म—क्रोध, असत्य, लोभमें जाना खतरनाक है। अथवा वर्ण-व्यवस्थाकी दृष्टिसे अपने-अपने क्षेत्रमें रहना अच्छा है। पर क्षेत्रमें जाना ठीक नहीं। इस प्रकार यथार्थ दृष्टि लिए चलें तो विरोधको बढ़नेका मौका ही न मिले। मुझे विश्वास है सब धर्मोंके लोग उदारचेता और विशाल दृष्टि बनेंगे।

अनेकान्त

जैनधर्मका नाम याद आते ही अहिंसा साकार हो आँखोंके सामने आ जाती है। अहिंसाकी अर्थात्मा जन शब्दके साथ इस प्रकार घुली-मिली हुई है कि इसका विभाजन नहीं किया जा सकता। लोकभाषामें यही प्रचलित है कि जैन धर्म यानी अहिंसा, अहिंसा यानी जैन धर्म।

धर्म मात्र अहिंसाको आगे किये चलते हैं। कोई भी धर्म ऐसा नहीं मिलता जिसका मूल या पहला तत्त्व अहिंसा न हो। तब फिर जैन धर्मके साथ ही अहिंसाका ऐसा तादात्म्य क्यों? यहीं विचार कुछ आगे बढ़ता है।

अहिंसाका विचार अनेक भूमिकाओंपर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसाके बारेमें अनेक धर्मोंमें विभिन्न धारणाएँ मिलती हैं। स्थूल रूपमें सूक्ष्मताके बीज भी न मिलते हों वैसी बात नहीं। किन्तु बौद्धिक अहिंसाके क्षेत्रमें

भगवान् महावीरसे जो अनेकान्त दृष्टि मिली, वही खास कारण है कि जैन धर्मके साथ अहिंसाका अविच्छिन्न सम्बन्ध हो चला।

भगवान् महावीरने देखा कि हिंसाकी जड़ विचारोंकी विप्रतिपत्ति है। वैचारिक असमन्वयसे मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसाके रूपमें अभिव्यक्त होती है। शरीर जड़ है, वाणी भी जड़ है। जड़में हिंसा-अहिंसाके भाव नहीं होते। इनकी उद्‌भव-भूमि मानसिक चेतना है। उसकी भूमिकायें अनन्त हैं।

प्रत्येक वस्तुके अनन्त धर्म हैं। उनको जाननेके लिये अनन्त दृष्टियाँ हैं। प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है। सब धर्मोंका वर्गीकृत रूप अखण्ड वस्तु है और सत्यांशोंका वर्गीकरण अखण्ड सत्य होता है।

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्दके द्वारा एक समयमें कही नहीं जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमें वस्तुके किसी एक पहलूका निरूपण होता है। वस्तुके जितने पहलू हैं उतने ही सत्य हैं। जितने सत्य हैं उतने ही द्रष्टाके विचार हैं। जितने विचार हैं उतनी ही आकांक्षायें हैं जितनी आकांक्षायें हैं उतने ही कहनेके तरीके हैं। जितने तरीके हैं उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र बिन्दु है। उसके चारों ओर विवाद-संवाद, संघर्ष-समन्वय, हिंसा और अहिंसाकी परिक्रमा लगती है। एकसे अनेकके सम्बन्ध जुड़ते हैं, सत्य-असत्यके प्रश्न खड़े होने लगते हैं। बस! यहींसे विचारोंका

वह चलता है—अनेकान्त या सत् एकान्त दृष्टि—'अहिंसा'; असत् एकान्त दृष्टि—'हिंसा।'

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत, इसकी परख करने के लिये एक दृष्टिकी अनेक धाराएँ चाहियें। वक्ताने जब शब्द कहा तब वह किस अवस्थामें था। उसके आसपासकी परिस्थितियाँ कैसी थीं? उसका शब्द किस शब्द-शक्तिसे अन्वित था? विवक्षामें किसका प्राधान्य था? उसका उद्देश्य क्या था? वह किस साध्यको लिये चलता था? उसकी अन्य निरूपण पद्धतियाँ कैसी हैं? तत्कालीन सामयिक स्थितियाँ कैसी थीं? आदि-आदि। अनेक छोटे-बड़े बाट मिलकर एक-एक शब्दको सत्यके तराजू पर तौलते हैं।

सत्य जितना उपादेय है, उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसको प्रकाशमें लानेका एकमात्र साधन है 'शब्द'। उसीके सहारे सत्यका आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने आपमें सत्य या असत्य कुछ नहीं है। वक्ताकी प्रवृत्तिसे वह सत्य और असत्यसे जुड़ता है। 'रात' एक शब्द है वह अपने आपमें सही या झूठ कुछ भी नहीं। वक्ता यदि रातको रात कहे तो सत्य है और अगर वह दिनको रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्दकी ऐसी स्थिति है तब कैसे कोई व्यक्ति केवल उसीके सहारे सत्यको ग्रहण कर सकता है? इसीलिये भगवान् महावीरने बताया—प्रत्येक धर्म वस्त्वंश-अपेक्षासे ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्यांशके साथ लगे या

छिपे अनेक सत्यांशोंको ठुकराकर कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके सामने असत्यांश बनकर आता है।

दूसरोंके प्रति ही नहीं किन्तु उनके विचारोंके प्रति भी अन्याय मत करो। अपनेको समझानेके साथ-साथ दूसरोंको समझानेकी चेष्टा करो। यही है अनेकान्त दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसीका नाम है बौद्धिक अहिंसा। भगवान् महावीर ने इसे दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा। इसे जीवन व्यवहारमें भी उतारा। चण्डकौशिक साँपने भगवान्के डंक मारे तब उन्होंने सोचा—यह अज्ञानी है। इसीलिए मुझे काट रहा है। इस दशामें मैं उस पर क्रोध कैसे करूं? संगमने भगवान्को कष्ट दिये तब उन्होंने सोचा कि यह मोह-विक्षिप्त है इसलिये यह ऐसा जघन्य कार्य करता है, मैं मोह-विक्षिप्त नहीं हूं इसलिए मुझे क्रोध करना उचित नहीं।

भगवान्ने चण्डकौशिक और अपने भक्तोंको समान दृष्टिसे देखा इसलिए देखा कि विश्वमैत्रीकी अपेक्षा दोनों उनके समकक्ष मित्र थे। चण्डकौशिक अपनी उग्रताकी अपेक्षा भगवान्का शत्रु माना जा सकता है किन्तु वह भगवान्की मैत्रीकी अपेक्षा उनका शत्रु नहीं माना जा सकता।

इस बौद्धिक अहिंसाका विकास होनेकी आवश्यता है।

स्कन्दक सन्यासीको उत्तर देते हुए भगवान्ने बताया—विश्व सान्त भी है अनन्त भी। यह अनेकान्त दार्शनिक क्षेत्रमें उपयुज्य है। दार्शनिक संघर्ष इस दृष्टिसे बहुत सरलतासे सुलझाये जा

सकते हैं। किन्तु कलहका क्षेत्र सिर्फ मतवाद ही नहीं है। कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनैतिक अखाड़े संघर्षोंके लिए सदा खुले रहते हैं। उनमें अनेकान्त दृष्टिलभ्य बौद्धिक अहिंसाका विकास किया जाय तो बहुत सारे संघर्ष टल सकते हैं। जो कहीं भय या द्वैधीभाव बढ़ता है, उसका कारण एकान्त आग्रह ही है। एक रोगी कहे मिठाई बहुत हानिकर वस्तु है—उस स्थितिमें स्वस्थ व्यक्तिको यकायक झेंपना नहीं चाहिये, उसे सोचना चाहिये कोई भी निरपेक्ष वस्तु लाभकारक या हानिकारक नहीं होती। उसकी लाभ और हानिकी वृत्ति किसी व्यक्ति विशेषके साथ जुड़नेसे बनती है। जहर किसीके लिये जहर है, वही किसी दूसरेके लिए अमृत होता है। परिस्थितिके परिवर्तन में जहर जिसके लिये जहर होता है उसीके लिये अमृत भी बन जाता है। साम्यवाद, पूँजीवादको बुरा बतलाता है और पूँजीवाद साम्यवादको। इसमें भी ऐकान्तिकता ठीक नहीं हो सकती। किसीमें कुछ और किसीमें कुछ विशेष तथ्य मिल ही जाते हैं। इस प्रकार हर क्षेत्रमें जैन धर्म अहिंसाको साथ लिये चलता है।

जैन स्वयं इस सिद्धान्तका विशेष उपयोग नहीं कर रहे हैं। इसलिये इसका यथेष्ट विकास नहीं होता। यह केवल एक सिद्धान्तकी वस्तु बन रहा है। जैन-अनुयायियोंका कर्त्तव्य है कि वे इसे व्यवहारमें लायें। अगर ऐसा हुआ तो दूसरे स्वयं इसका मूल्य समझेंगे।

जैन-एकता

जैन-एकताका प्रश्न मेरे लिए हृदयस्पर्शी प्रश्न है। मैं समय समय पर इस विषयमें सोचता और कहता रहा हूं। इस समय भी कुछ विचार व्यक्त करूं ऐसी मेरी भावना है।

एकताका प्रश्न जितना प्रिय होता है उतना टेढ़ा भी। फिर आशावादी व्यक्ति किसी भी सम्भावनाको टाल नहीं सकता। एकताका अर्थ क्या हो? जैनके सभी सम्प्रदायोंका एकीकरण या उनका अविरोध अथवा शक्ति संचय। एकीकरणकी बात मेरी दृष्टिमें बहुत दूरकी बात है। कटु, किन्तु स्पष्ट कहूं तो वर्तमानके वातावरणमें रहते हुए वह असम्भव सी है। पहले इसकी भूमिका प्रशस्त करनेके लिए दूसरा और तीसरा विकल्प हमारे चिन्तनका विषय बनना चाहिए। पारस्परिक विरोध करते हुए कुछ भी होना सम्भव नहीं। विरोधसे मेरा तात्पर्य सैद्धान्तिक मतभेदसे नहीं, पारस्परिक दुर्भावनासे है।

सबसे पहले प्रयत्न यह हो कि आपसमें मनमुटाव न रहे। सिद्धान्त और उनके प्रचारमें भले ही स्वतन्त्रता हो पर असद्-भावनाके प्रसार पर सबका सम्मिलित नियन्त्रण रहे। सब सम्प्रदायोंका प्रत्यक्ष सहयोग मिले तो यह महान् लभ्य स्थिति है और भावी कार्यक्रमकी सबसे अधिक आवश्यक मांग है।

इस स्थितिके बनने पर शक्ति-संचयका प्रश्न जटिल नहीं रहता। भगवान् महावीरके अनुगामी सभी सम्प्रदाय एक शक्ति-शाली अहिंसक समाजके रूपमें मौलिक तथ्यों पर एक हों— जैनत्वसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रिया-प्रतिक्रिया सबके लिए समान हो। जैनत्वके सामान्य प्रचार और विकासमें पचीस लाख जैनों की संयमपूर्ण वृत्तियोंका असर दूसरों पर न हो; यह सम्भव नहीं। कदाचित् न भी हो किन्तु जीवन कल्याण तो निश्चित है।

मेरा विश्वास तो ऐसा है कि भगवान् महावीरने जिस अल्पा-रम्भी, अल्पपरिग्रही समाजका ढाँचा जनताके सामने रखा वह अल्प संख्यामें रहकर भी दुनियाँका पथ-दर्शन कर सकता है।

हिंसा और अर्थप्रधान संस्कृतिके कड़वे फल संसार भोग चुका है। हममें कुछ समझ है तो अब उसके पैर पकड़े रहनेकी कोई जरूरत नहीं। सही अर्थमें खान-पान, रहन-सहनका विकास सांस्कृतिक विकास है ही नहीं। उनमें मानवताका, थोड़ा आगे बढ़ें तो संयमका विकास ही सांस्कृतिक विकास है। क्योंकि शोषण और हिंसा विहीन समाज ही सबके लिए 'शिवंकर' हो सकता है।

जैन अपनी परम्परागत सम्पत्तिका उपयोग करना चाहें तो वे कठिनाइयोंके बावजूद भी शम-प्रधान संस्कृतिको अपनायें। दूसरों तक उसे पहुंचायें। भारतको इसकी पूर्ण अपेक्षा है। ऐसा हुआ तो भारतीय इतिहासमें उनका सुचिर अभिनन्दन होगा।

स्थिति समान रह सकती है। जैनोंकी संघटित अहिंसा-शक्ति एक महान् विभूतिके रूपमें परिणत हो सकती है। इन दोनों स्थितियोंको पालने पर ही पहले विकल्प पर विचार करना अधिकृत हो सकता है। पहलेपहल एकीकरणका प्रश्न सम्मुख रहे तो उसमें प्रसादको अपेक्षा विषाद बढ़नेकी सम्भावना अधिक है।

यह प्रयत्न कब करे, कौन करे और कैसे करे इसमें बहुत कुछ सममने जैसा है। चूंकि जैन समाज पर साधु-समुदायका पूर्ण प्रभाव है, इसलिए वे चाहें तब यत्न किया जाय अन्यथा इसमें सफलता मिलना कठिन है। चाहनेका अर्थ यह है कि विभिन्न सम्प्रदायोंके साधु ऐक्यकी आवश्यकता स्वयं या दूसरोंके द्वारा अनुभव कर लें। फिर उनकी सहमतिसे कार्य चलाया जाय। यत्न करनेवाले व्यक्ति भी समभावी, साम्प्रदायिक आवेशसे मुक्त और ऐक्यनिष्ठावाले होने चाहिए। कैसे करे? इसके बारेमें कोई निश्चित रूप-रेखा प्रस्तुत करना सहज नहीं लगता। कार्य-प्रारम्भ और तात्कालिक स्थितियों पर ही बहुत कुछ निर्भर है।

लगन हो तो मार्ग अपनेआप निकल आयेगा। फिर भी चलनेके लिए कुछ न कुछ तो करना ही होगा। मुझे अन्तरङ्ग

कार्यवाहीमें बहुत विश्वास है। अन्तरकी भूमिका मजबूत हो तो बाहरी हवा उसे ढहा नहीं सकती अन्यथा होता क्या है कि जो कुछ बनता है उसे आसपासके झोंके ढहा देते हैं। खाका चित्र बन पाता ही नहीं।

मैं इस विषय पर अभी अधिक लम्बा नहीं चलूंगा। इस समय मेरा झुकाव अविरोध की ओर अधिक है। उसकी कुछ प्रवृत्तियों का निर्देशन करना भी मुझे आवश्यक लगता है:—

(क) प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी मान्य परम्पराओं के प्रतिपादन या प्रचार से आगे न बढ़े। दूसरों के प्रति घृणा, रोष, अनादर-भाव न फैलाये।

(ख) आपस में एक दूसरे पर आक्षेप न करे। निन्दात्मक पत्र आदि न निकाले।

(ग) सैद्धान्तिक मतभेदोंका सामाजिक कार्यों में उपयोग न करे।

(घ) रोटी-बेटी का व्यवहार बन्द करना आदि-आदि घृणित प्रवृत्तियों को न अपनाये।

(ङ) किसी भी सम्प्रदायके साधुका किसी प्रकार भी तिरस्कार या असम्मान न करे।

(च) सम्प्रदाय-परिवर्तन की स्वतन्त्रता में बाधा न पहुंचाये। प्रतिबन्ध आदि न लगाये।

(छ) अपने सम्प्रदायमें लानेके लिए किसी पर दबाव न डाले।

(ज) अमुक क्षेत्र, अमुक साधु या मुनि का है इस भावना को प्रोत्साहन न दें।

इन धारणाओं को कार्यरूप देने के लिए सब सम्प्रदायों का एक नियमित वर्ग सम्मिलित प्रयत्न करे और सामूहिक नियंत्रण रखे तो मुझे ऐसा लगता है कि स्थितिमें बहुत परिवर्तन हो जाय। सद्भावना का वातावरण पैदा करना ही कठिन है। इस कठिनाई को पार करने पर हमारा भावी कार्यक्रम बहुत सरल हो सकता है।

कार्यवाहीमें बहुत विश्वास है। अन्तरकी भूमिका मजबूत हो तो बाहरी हवा उसे ढहा नहीं सकती अन्यथा होता क्या है कि जो कुछ बनता है उसे आसपासके झोंके ढहा देते हैं। खाका चित्र बन पाता ही नहीं।

मैं इस विषय पर अभी अधिक लम्बा नहीं चलूंगा। इस समय मेरा झुकाव अविरोध की ओर अधिक है। उसकी कुछ प्रवृत्तियों का निर्देशन करना भी मुझे आवश्यक लगता है :—

(क) प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी मान्य परम्पराओं के प्रतिपादन या प्रचार से आगे न बढ़े। दूसरों के प्रति घृणा, रोष, अनादर-भाव न फैलाये।

(ख) आपस में एक दूसरे पर आक्षेप न करे। निन्दात्मक पत्र आदि न निकाले।

(ग) सैद्धान्तिक मतभेदोंका सामाजिक कार्यों में उपयोग न करे।

(घ) रोटी-बेटी का व्यवहार बन्द करना आदि-आदि घृणित प्रवृत्तियों को न अपनावे।

(ङ) किसी भी सम्प्रदायके साधुका किसी प्रकार भी तिरस्कार या असम्मान न करे।

(च) सम्प्रदाय-परिवर्तन की स्वतन्त्रता में बाधा न पहुंचाये। प्रतिबन्ध आदि न लगाये।

(छ) अपने सम्प्रदायमें लानेके लिए किसी पर दबाव न डाले।

(ज) अमुक क्षेत्र, अमुक साधु या मुनि का है, इस भावना को प्रोत्साहन न दे।

इन धारणाओं को कार्यरूप देने के लिए सब सम्प्रदायों का एक नियमित वर्ग सम्मिलित प्रयत्न करे और सामूहिक नियंत्रण रखे तो मुझे ऐसा लगता है कि स्थितिमें बहुत परिवर्तन हो जाय। सद्भावना का वातावरण पैदा करना ही कठिन है। इस कठिनाई को पार करने पर हमारा भावी कार्यक्रम बहुत सरल हो सकता है।

हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व

समूचा संसार शान्ति की खोज में है। हिंसा के पाशविक परिणामों को भोगकर भी वह दिङ्मूढ है। अहिंसा का प्रशस्त मार्ग दीखता है, पर श्रद्धा नहीं होती। मनुष्य अशांति से छुट्टी पाने को कुछ-कुछ अहिंसा की ओर बढ़ता है, किन्तु हिंसा का मोहक आकर्षण उसका पल्ला खींचता है, वह खिसक जाता है।

अमेरिका जैसा धनी और रूस जैसा श्रमी राष्ट्र भयग्रस्त है। जीवन की आवश्यक वस्तुएं श्रम और धन भी शान्ति के लिए पर्याप्त नहीं हैं, केवल जीने के लिए पर्याप्त हैं। हिंसा और अहिंसा का स्वरूप यहां साफ हो जाता है। जीना मनुष्य-जीवन का सार नहीं, उसका सार है—शान्ति का अनुभव करना। उसका साधन एकमात्र मैत्री ही है।

श्रम और धन का स्व-मूल्य भी अहिंसा का वातावरण बने विना किञ्चित्कर नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र

यह समझें कि किसी भी दृष्टि से दूसरों पर प्रभुत्व, अधिकार और सत्ता स्थापित करने से न कभी भी शान्ति हुई है और न होने की है। अणुव्रती-संघ का नकारात्मक दृष्टिकोण शान्ति की भूमिका को प्रशस्त करता है। 'नकार' को साधे बिना 'सकार' की ओर बढ़ना कठिन है।

अहिंसा से सम्भव है सीधे रूप में रोटी, कपड़ा और मकान न मिले पर इनके मिलने पर भी जो वस्तु यानी शान्ति नहीं मिलती वह अहिंसा से मिल सकती है। इसलिए अहिंसा का मूल्य सर्वोपरि है।

इस दिन के उपलक्ष में सब लोग निष्ठापूर्वक त्याग और संयम की प्रतिष्ठा बढ़ायें, अणुव्रतों को फैलायें—यह मेरी मंगल-कामना है।

[दिल्ली, अहिंसा-दिवस के अवसर पर]

विश्वशान्ति और सद्भाव

धर्म प्रेमी बन्धुओं !

विश्व शान्तिका प्यासा है। राजनैतिक वातावरण से वह नहीं मिल रही है। त्यागी सन्तों से उसका पथ-दर्शन चाहते हैं—यह ठीक ही है। पुराने समय में त्यागी ऋषि-महर्षियों से जनता शान्ति का सन्देश लेती थी, वे भी निःस्वार्थ भाव से देते थे। बीच का वातावरण कुछ धूमिल सा हो गया था। सन्तों में जनता की भक्ति नहीं रही, इसका कारण तत्कालीन संत ही थे। उनमें साधुता का अभाव था, जनता क्या करे? जो साधना न करे वह सन्त भी नहीं। साधना आत्मा के लिये न कि किसी को भक्त बनाने के लिए होनी चाहिए। भक्त बनाने की दृष्टि से की जानेवाली साधना अधूरी है, वह साधना नहीं स्वार्थवृत्ति है। आज जनता का आकर्षण सच्चे साधुओं के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता जारहा है, बढ़ना भी चाहिए।

शान्ति और सद्भाव को प्रतिष्ठित करने के पहले अशान्ति और असद्भाव के कारण जानलेना जरूरी है। रोग का ठीक निदान किये बिना चिकित्सा नहीं की जा सकती। अशान्ति और असद्भाव का व्यापक प्रसार है और हो रहा है। भय, बलात्कार और असत्प्रवृत्ति अशान्ति के कारण हैं। वास्तविकता को छिपाना, अपने को बड़ा बताना, परनिन्दा, दम्भचर्या, साम्प्रदायिकता ये सब चीजें असद्भाव को जन्म देती हैं। इन सब चीजों का प्रतिकार श्रमणसंस्कृति के द्वारा सम्भव है। शम, सम और श्रम—श्रमणसंस्कृति के ये तीन अंग हैं। आज इन तीनों की कमी है।

शम का अर्थ है कषायों का उपशम। प्रशम-भावना के स्थान में आज उग्र भावना है—क्रोध, अहंभाव, दम्भचर्या और लोभ है। भगवान् महावीर के शब्दों में ये चार बड़े दोष हैं। इनको छोड़ने में अपना और दूसरों का हित है। क्रोध का शमन क्षमा और सहनशीलता से होगा। जो मानव गाली देता है, अन्याय करता है वह अपना अनिष्ट करता है। उसके समान नहीं होना चाहिए। क्षमा के समान क्रोध-शमन की कोई चिकित्सा नहीं।

मैं महान् हूं, आकर्षक वक्ता हूं, प्रमुख लेखक हूं, कवि हूं—ये सब अभिमान के चिह्न हैं। गर्व करना लघुता है, महान् व्यक्ति, अहंभाव नहीं छू सकता। संसार में अनेकानेक बड़े हैं। अपने को बड़ा मानना मूर्खता है। शान्तभाव और मृदुता से

विश्वशान्ति और सद्भाव

धर्मप्रेमी बन्धुओं !

विश्व शान्तिका प्यासा है। राजनैतिक वातावरण से वह नहीं मिल रही है। त्यागी सन्तों से उसका पथ-दर्शन चाहते हैं—यह ठीक ही है। पुराने समय में त्यागी ऋषि-महर्षियों से जनता शान्ति का सन्देश लेती थी, वे भी निःस्वार्थ भाव से देते थे। बीच का वातावरण कुछ धूमिल सा हो गया था। सन्तों में जनता की भक्ति नहीं रही, इसका कारण तत्कालीन संत ही थे। उनमें साधुता का अभाव था, जनता क्या करे ? जो साधना न करे वह सन्त भी नहीं। साधना आत्मा के लिये न कि किसी को भक्त बनाने के लिए होनी चाहिए। भक्त बनाने की दृष्टि से की जानेवाली साधना अधूरी है, वह साधना नहीं स्वार्थवृत्ति है। आज जनता का आकर्षण सच्चे साधुओं के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता जारहा है, बढ़ना भी चाहिए।

शान्ति और सद्भाव को प्रतिष्ठित करने के पहले अशान्ति और असद्भाव के कारण जानलेना जरूरी है। रोग का ठीक निदान किये विना चिकित्सा नहीं की जा सकती। अशान्ति और असद्भाव का व्यापक प्रसार है और हो रहा है। भय, बलात्कार और असत्प्रवृति अशान्ति के कारण हैं। वास्तविकता को छिपाना, अपने को बड़ा बताना, परनिन्दा, दम्भचर्या, साम्प्रदायिकता ये सब चीजें असद्भाव को जन्म देती हैं। इन सब चीजों का प्रतिकार श्रमणसंस्कृति के द्वारा सम्भव है। शम, सम और श्रम—श्रमणसंस्कृति के ये तीन अंग हैं। आज इन तीनों की कमी है।

शम का अर्थ है कषायों का उपशम। प्रशम-भावना के स्थान में आज उग्र भावना है—क्रोध, अहंभाव, दम्भचर्या और लोभ है। भगवान् महावीर के शब्दों में ये चार बड़े दोष हैं। इनको छोड़ने में अपना और दूसरों का हित है। क्रोध का शमन क्षमा और सहनशीलता से होगा। जो मानव दुःख देता है, अन्याय करता है वह अपना अनिष्ट करता है। उसके समान नहीं होना चाहिए। क्षमा के समान क्रोधशमन की कोई चिकित्सा नहीं।

मैं महान् हूँ, आकर्षक वक्ता हूँ, विद्वान् लेखक हूँ, कवि हूँ—ये सब अभिमान के चिह्न हैं। [illegible] लघुना है [illegible] को अहंभाव नहीं छू सकता। संसार में अनेक [illegible] अपने को बड़ा मानना मूर्खता है [illegible]

अहंभाव का दमन करना चाहिए। दम्भचर्या से मनुष्य प्रतिष्ठा और विश्वास को गंवा देता है। सरलता—लाघव को जीवन में उतारना चाहिए। कपटवृत्ति का परिणाम कटु है। लोभ आग है। वह धन से नहीं बुझती, सन्तोष-जल से इसे बुझाना चाहिए। इस तरह कषायों का प्रशम किया जा सकता है।

सम, समानता की ओर झुकने को कहता है। यह ऊँचा है, यह नीचा है, मैं महान् हूं, यह विचारधारा अशान्ति को जन्म देती है। वस्तुतः गुणी ऊच्च और अवगुणी नीच है। काम करनेमात्र से कोई ऊँच-नीच नहीं होता। प्राणी-साम्य की स्थिति में मनुष्य को नीच-ऊँच मानना उचित नहीं। इसका परिणाम भयंकर होगा। समता को आदर्श मानने वाले कतिपय धार्मिक व्यक्ति भी इस स्वरूप को नहीं समझ पाये। अमुक को धर्म का अधिकार नहीं, अमुक को है—इस व्यर्थ के पचड़े में फंसे हुए हैं। क्या धर्मचर्या में काले-गोरे, जाति-पाँति का भेदभाव हो सकता है? क्या धर्म किसी वर्गविशेषके लिए निर्धारित वस्तु है? नहीं। वह प्राणी मात्र की ग्राह्य वस्तु है। जाति या वर्गविशेष के साथ उसका कोई गठबंधन नहीं। कई यहांतक कह बैठते हैं कि स्त्री को धर्म करने का अधिकार नहीं है। क्या आजका शिक्षित स्त्री-समाज इस घोर अपमानको सह सकेगा? असमता की भावना कितनी व्याप्त है!

श्रम—उद्योग कम चीज नहीं। आत्मशुद्धि के प्रति उद्योग होना चाहिए। अकर्मण्यता बुरी है। जो लिखा है वह होगा

यह भावना मनुष्य को निष्क्रिय बनाती है। करेंगे जो होगा—यह निश्चय होना चाहिए। भाग्य को अधिक महत्त्व देने से उद्योग में शैथिल्य आता है।

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥"

भाग्यमें जो कुछ लिखा है वही होगा—यह कापुरुषोंकी वाणी है। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि भाग्य का कोई महत्त्व नहीं। एकाङ्गी दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए। भाग्य और उद्योग दोनों का महत्त्व है। उद्योग से भाग्य को अच्छा बनाया जा सकता है। उद्योग को छोड़कर आज भिखमंगे कितने बढ़े जा रहे हैं। सड़कों पर बैठे मांग रहे हैं। कोई विदेशी यहां का निरीक्षण करे तो क्या समझे—भारतीय कितने भूखे हैं। क्या यह भारतके लिए शर्मकी बात नहीं? भिखमंगोंको बढ़ानेका श्रेय उन दानी महाशयोंको भी है जो स्वर्गके सीढ़ियां लगाने के लिए पुण्य-उपार्जन करना चाहते हैं। बिना सोचे-विचारे दानका यह दुष्परिणाम है। भगवान् महावीरने कहा है—"संयमम्मि वीरियं" सदाचार-सत्कार्य में सदा उद्योग होना चाहिए। श्रमण का तात्पर्य—श्रम और सम के द्वारा शान्ति और श्रम

जैनों का झुकाव श्रमणसंस्कृति की ओर अधिक होना चाहिए। केवल यह कह देना कोई अर्थ नहीं रखता कि हमारे नेता बड़े क्रान्तिकारी हुए थे, संसार को शान्ति का पाठ पढ़ाया था। आपके बुजुर्ग बड़े हुए पर आप कैसे हैं? क्या करते हैं? यह भी तो सोचें। कहा भी है—"उत्तमाः स्वगुणैः ख्याताः"—उत्तम वेही हैं जो अपने गुणों से विख्यात हैं। प्राचीन समय में जैनों की कितनी प्रतिष्ठा थी! उच्च-उच्च अधिकारी जैन बनाये जाते थे। उनके लिए यह विश्वास था कि ये अन्याय और शोषण नहीं करते हैं, हिंसा और झूठ से परे रहते हैं। क्या वह प्रतिष्ठा आज भी है? आज जैनों को लोग अधिक दम्भी और शोषक मानते हैं। मैं यह नहीं मानता कि जैनेतर सभी सदाचारी हैं, फिर भी अपने को अपना पुराना आदर्श उपस्थित करना है।

मुझे बहुधा लोग कहा करते हैं कि आपका साधु-संघ कितना संगठित है पर जैन श्रावकों में कितना अनैक्य और कलह है। इससे मुझे बहुत दुःख होता है। जैनों को आज श्रमण-संस्कृति अपनाने का कहां अवकाश है। वे मन्दिर, मठ, आश्रमों के झंझटों से भी निवृत्त नहीं हो पाए हैं। आज संगठन की मांग है। अनैक्य का वातावरण किसे दुःखद नहीं। अनेक सम्प्रदायों का होना बुरा नहीं, सभी एक शरीर के अवयव विशेष हैं। पर साम्प्रदायिकता नहीं होनी चाहिये। साम्प्रदायिकता बुरी है, संकीर्णता बुरी है। किसी को किसीके प्रति विरोध का वातावरण

नहीं पैदा करना चाहिए। विरोध न होने पर परस्पर प्रेम व शान्ति तो होती ही है।

सभी जैन विचारों से एक बनना चाहते हैं तो इसका पहला सोपान यह होगा कि किसी की छींटाकसी न करना। अपने-अपने विचार बताने में तो किसी को अड़चन होनी ही नहीं चाहिए। विरोध से हमें घबराना नहीं चाहिए। मैंने एक पद्य में कहा भी था—

जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद।
सत्य-सत्य शोध में, तबही सफलता पायेंगे॥

विरोध मेरी दृष्टिमें विनोद है।,विनोदसे डरकर आदमी कुछ कर भी नहीं सकता। विरोध से हमें बहुत सफलता मिली है।

अपरिग्रह भी आज की समस्याओं को सुलझाने का बड़ा साधन है। सञ्चय न करना या सञ्चय में कमी करना इसका लक्ष्य होगा। संसार के समूचे धन को जल में बहा देने से भी कुछ नहीं होगा जबतक कि ममत्व न मिटे। "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" यह मेरा है—यही तो परिग्रह है जो कि जन-जन में व्याप्त है। कोई कोट्याधीश यह दम भर सकता है कि धनमें मेरा ममत्व नहीं पर वह बहाना है। यदि ममत्व नहीं तो फिर वह उसे क्यों रखे? लालसा को सीमित करना चाहिए। 'इच्छा हु आगाससमा अणंतया' इच्छा आकाश के समान अनन्त है

"पीना पानी कूप गगन का, उदर अनाज ही
सोना चांदी केती संचो, नहीं दबके मर"

मनुष्य की स्थिति तो यह है फिर भी लालसा क्यों बढ़ी-चढ़ी रहती है। लालसा कम होने से सञ्चय कम होगा। सञ्चय कम होने से आजकल के विग्रह स्वतः टिक न सकेंगे। सुख-शान्ति का यही प्रशस्त मार्ग है। वार्तमानिक समस्याओं का हल जैन दृष्टिकोण से इसीमें है। अहिंसा और अपरिग्रह के आज व्यापक प्रसार की आवश्यकता है।

ता० ४-५-४६

जैन श्वे० मन्दिर, नईदिल्ली

वर्तमान युग और जैनधर्म

आज का युग कैसा है यह सब जानते हैं। युग विषम नहीं होता लोग उसे बनाते हैं। परिस्थितियां अनुकूल व प्रतिकूल होने का कारण भी लोग हैं। आज की समस्याएं अनेक हैं। उनका सुलझाव वैज्ञानिक आविष्कारों से नहीं हो सकता। इनसे भय, आशंका दिन-प्रतिदिन बढ़ती जारही है।

आज शासक दुःखी है, शासित दुःखी हैं। पग-पग पर विषमता है। आर्थिक वैषम्य पहले था, आज भी है। धनी सुखी नहीं, गरीब से धनी अधिक दुःखी हैं। उन्हें भय है, धन-संरक्षण की चिन्ता है। आज की समस्याओं का हल धन व सत्ता में नहीं, अहिंसा और अपरिग्रह में है। इन दोनों का विश्लेषण ग्रन्थों में बहुत है और लोग सुनते हैं। जबतक विश्लेषण जीवन के कार्यों में न हो तबतक क्या हो

जैन दार्शनिकों ने अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन किया है। अहिंसा की परिभाषा प्राणीमात्र के साथ मैत्री व समता का व्यवहार करना है।

लोगोंको आशंका यह रहती है कि जैन-अहिंसा आदर्श अवश्य है किन्तु अव्यवहार्य है। उसका पालन शक्य नहीं; पानी पीने में, अग्नि तथा वनस्पति के व्यवहार में भी हिंसा होती है। अहिंसा-धर्म अवश्य ही सूक्ष्म है। मानव अपनी सहज कमजोरी से उसे जीवन में नहीं उतार सकता—यह बात अलग है। पर आदर्श की हत्या नहीं की जासकती। पूर्ण अहिंसा न निभा सके तो यथाशक्ति आवश्यक है। वह आदर्श नहीं जिस पर कोई न चलसके। जिस पर सब चल सकें वह भी आदर्श नहीं। उसका पूर्ण अनुसरण तो कोई विशिष्ट व्यक्ति ही कर पाता है।

पूर्ण अहिंसक की गति, स्थिति, रहन-सहन साधारण लोगों से कुछ भिन्नकोटि का होगा। उसका वक्तव्य आक्षेपात्मक कटु नहीं, जन कल्याणकारी प्रिय होगा। वह दुराचारी पर नहीं, दुराचार पर कुठाराघात करेगा। विरोध सहने की उसमें पूर्ण क्षमता होगी। उसका प्रतिकार करने के लिये वह कदम नहीं उठावेगा। उसकी चर्या में खाद्य-संयम का प्रामुख्य रहेगा। माधुकरी वृत्ति उसके जीवन-यापन का साधन होगी। जैन-अजैन सब कुलों में भिक्षाचरी करेगा।

वस्तुतः जातिवाद का कोई महत्त्व नहीं। जैनधर्म उदार धर्म है, उसमें संकीर्णता नहीं। वह पशु-पक्षी, प्राणीमात्र के

प्रति साम्यपूर्ण व्यवहार का निर्देश करता है। जाति से किसी को स्पृश्य-अस्पृश्य, ऊँच-नीच मानना कतई गलत है। अहिंसक का किसी पर वजन नहीं होता है। यह मठ, आश्रम के ममत्व से विमुक्त होता है।

सब व्यक्ति पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकते, अतः भगवान् महावीर ने अणुव्रतों का निर्देश किया। कम से कम मानव इरादेपूर्वक हिंसा करनेका तो परित्याग करे, जिसे 'संकल्पी हिंसा' कहते हैं। भारत को संकल्पी हिंसा ने बदनाम किया। हिन्दू-मुस्लिमों का संघर्ष इसीका तो प्रतीक है, जिसका कटु परिणाम आज भी आँखों के सामने है। मैं यह नहीं मानता कि सब व्यक्ति पूर्ण अहिंसा का पालन कर सकें। राजनीति तो कूटनीति है, वह अहिंसा से कैसे चल सके। इसीलिए तो 'अणुव्रत' सबके लिए व्यवहार्य हो जाते हैं।

अनिवार्य हिंसा को अहिंसा मानना उचित नहीं। आक्रान्ताओं के प्रति होने वाली हिंसा, जीवन की आवश्यकता पूर्ति में होनेवाली हिंसा अनिवार्य हो सकती है पर उसे अहिंसा नहीं कह सकते। अनिवार्य होने से हिंसा अहिंसा नहीं होती। उसे हिंसा मानना ही होगा। आचरण पूरा न हो सके फिर भी सम्यग् ज्ञान होना चाहिए। सम्यग् ज्ञान होने से अहिंसा के आचरण में प्रयत्नशील बन सकेगा। अहिंसा को जीवन में उतारने का यही प्रकार है।

एक गण्यमान्य व्यक्ति ने कहा था कि मैंने

विरोध में बहुत सुना, मैंने सोचा कि जिसका इतना विरोध है उसमें तथ्य जरूर है। तथ्य न होता तो विरोध भी क्यों होता।

विरोध का प्रतिकार करना मैं तो कमजोरी मानता हूं। ईंट का जवाब पत्थर से देना नीचता है। मैं तो रचनात्मक कार्य में विश्वास रखता हूं।

यह साम्प्रदायिकता को भूल जाने का जमाना है। यदि लोग धर्म के नाम पर झगड़ते रहे तो खुद बदनाम होंगे और धर्म को बदनाम करेंगे। शान्ति स्थापना करनी है तो समन्वय को अपनाना होगा। मैं तो बहुधा कहा करता हूं कि सब दर्शनों में समन्वय के तत्त्व अधिक हैं, विरोधी तत्त्व कम हैं। अधिक को छोड़कर कम के लिए विरोध करें, लड़ें झगड़ें यह कहां तक उचित होगा ?

महाभारत में धर्म के लक्षण बताये हैं :—

अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मिथुनवर्जनम् ।
पंचस्वेतेषु धर्मेषु, सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः ॥

और जैन-दर्शन भी यही कहता है :—

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च ।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू ॥

धर्म के विषय में दोनों दर्शनों में बराबर समन्वय है। सृष्टि-कर्तृत्व व ईश्वर-स्वरूप आदि के विषय में जो कुछ मत-भेद है, उसे शान्ति से दूर करने का प्रयास करें। किन्तु परस्पर क्षोभ, वैमनस्य नहीं होना चाहिए। उदार भावना से विचार-विभेद दूर किया जा सकता है। शान्ति और सद्भावना का अधिकाधिक प्रसार हो, ऐसा वातावरण पैदा करना चाहिए।

ता० १६-२-४९

दरियागंज, दिल्ली

आत्मानुशासन सीखिए

मैं कल जितना खुश था, उतना ही आज हूं। मेरे लिए सभी दिन उत्सव के हैं, सभी दिन स्वतंत्रता के हैं। आत्मानुशासन में रहनेवाले के लिए परतंत्रता जैसी कोई वस्तु होती ही नहीं फिर आजका वातावरण मुझे कुछ विशेष बात कहने के लिए प्रेरित कर रहा है। इसलिए मुझे बीते वर्षों की तरह आज भी एक विशेष प्रवचन करना है। मेरी त्यागभरी वाणी से लोगों को कुछ लाभ मिले मैं इसके सिवाय और कुछ नहीं चाहता।

आज मुक्ति का दिन है। बन्धन टूटे, मुक्ति मिली। बन्धन दुःख है, मुक्ति सुख है। सुख-दुखको यही परिभाषा है। "सर्वं परवश दुःखम्, सर्वमात्म वश सुखम्।" मैं जहांतक देखता हूं मनुष्य को मुक्ति नहीं मिली है। आन्तरिक मुक्ति के बिना मुक्ति मूल्यवान नहीं बनती। आप देख रहे हैं—स्वतंत्रता का जो उत्साह होना चाहिए वह कहां है ? मनुष्यों में आज भी हिंसा की भावना

प्रबल है। लोग समझते हैं हिंसा से सबकुछ हो जायगा पर यह भूल है। हिंसा, भय, कायरता और अशान्ति इनका कार्य-कारण भाव है। यह साफ है—हिंसा से भय, भय से कायरता और कायरता से अशान्ति बढ़ती है। इन सबकी जड़ मेरी समझ में राजनीति का बोलबाला है। राजनीति लोगों के जरूरत की वस्तु होती होगी, किन्तु सबका हल इसीमें ढूढ़ना भयंकर भूल है।

आजकी राजनीति सत्ता और अधिकारों को हथियाने की नीति बन रही है। इसलिए उसपर हिंसा हावी हो रही है। इससे संसार सुखी नहीं होगा। संसार सुखी तभी होगा जब ऐसी राजनीति घटेगी। प्रेम, समता और भाईचारा बढ़ेगा। आज लोग शान्ति के प्यासे हैं, चारों ओर यह प्रश्न है कि अमन कब होगा? आप याद रखें मैं सही कहता हूं भाईचारा बढ़ेगा, अमन तब होगा। उसके लिए त्याग का आदर्श चाहिए। त्याग-बल से ही चरित्र की ऊँचाई सम्भव है। चरित्र-बल बढ़े बिना मनुष्य स्वतंत्र नहीं रह सकता। पशु-बल हमेशा डंडे के नीचे रहता है। आज आप यही देखें चरित्र की ताकत घट रही है। मनुष्य पशु ही नहीं बना उससे भी दो कदम आगे बढ़ गया। पशु प्रेरणा से ठीक तो चलता है पर आज का मानव उसे भी नहीं मानता। आवाजें खूब लग रही हैं किसलिये? बल बढ़ाने के लिए, नैतिकता को जगाने के लिए। [illegible] विशेष परिणाम नहीं [illegible] है। [illegible]

लगाने वाले सम्भव है वैसा नहीं करते, इसमें कोई शक नहीं। जो स्वयं चरित्रवान् नहीं है वह दूसरों को चरित्रवान् नहीं बना सकेगा।

जनता के कल्याण की बातें करने वाले स्वयं अनुचित तरीकों से काम करें तब कल्याण कैसे हो ? राजनीति पर सत्य, अहिंसा का अंकुश रहे तभी वह ठीक चल सकती है इसके बिना वह अनीति बन जाती है। मैं मानता हूं धर्म राजनीति से परे है फिरभी राजनीति को उसकी अपेक्षा है। आप अपने राष्ट्र को जनतंत्र के ढांचे में ढालना चाहते हैं। आनेवाले चुनाव जनतंत्र के प्रमाण होंगे। भाइयों ! ख्याल रखना, जनतंत्र स्वार्थतंत्र बनने न पावे। आजतक कुछ ऐसा ही रूप लोगों के सामने आरहा है। शायद जनतंत्र के प्रेमियों को यह कटु लगे। कटु हो सकता है पर सत्य से परे नहीं है। आप जनतंत्र को सफल बनाना चाहते हैं तो आत्मानुशासन सीखें। उसी हालत में अप स्वतंत्रता का पूरा-पूरा सुखोपभोग कर सकेंगे। मेरी भाषा ... स्वतंत्र वही है जो अधिक से अधिक नियमानुवर्ती रहे, औरों ... नहीं ... अनुशासन में चलना सीखे। चलाने

बनें। उनकी इस उक्तिमें जनतंत्र के बीज हैं। जनतंत्र में दो चार व्यक्तियों की ही योग्यता की अपेक्षा नहीं रहती। उसमें तो प्रत्येक को अपनी योग्यता का भान होना चाहिए। चुनाव होगा यह मुझे नहीं बताना है। मुझे बताना है कि उसमें आप बुराई से बचें।

अणुव्रती-संघ में पहले से ही मैंने यह नियम रखा है कि प्रलोभनमें आ, किसीको मत (वोट) न दें, उसकी खास जरूरत है। आज ही क्या जनतंत्रमें यह जरूरत रहती ही है क्योंकि निर्वाचन प्रणाली जनतंत्रका मूल आधार है। इसीके आधार पर तंत्र एक से हटकर अनेक का बनता है। एक की अयोग्यता में तंत्र स्वस्थ नहीं रह सका इसलिए अनेकोंने उसे सम्भालने का यत्न किया। उनमें भी योग्य का योग नहीं बन पाया तो फिर तंत्र की क्या गति होगी ?

शासनतंत्र में योग्य व्यक्ति आयें आजकी अपेक्षा सिर्फ इतनी ही नहीं है। जनतंत्र की अपेक्षा है कि प्रत्येक व्यक्ति योग्य बने। सत्ता और धन का मोह त्यागे। अपने और पराये का भेदभाव न रखे। यहीं से सच्चा जनतंत्र निकलता है। इसीमें उसकी सफलता है। सत्ता का लोभी बनकर जो मत लेना चाहे, धन का लोभी बनकर कोई मत दे, वे दोनों जनतंत्र के दुश्मन हैं। मुझे कहना चाहिए कि उन्हें जनतंत्र से प्रेम नहीं है। वे जनतंत्र के नाम से अपने अहंभाव और घर का पोषण चाहते हैं। योग्य व्यक्ति की अपेक्षा अयोग्य व्यक्ति को 'मत'

इसलिए दिया जाय कि वह अपनी पार्टी का है—स्थिति ऐसी है तब यह अपेक्षा क्यों हो कि चुनाव में योग्य व्यक्ति ही आये।

बुराई स्वछन्द होती है। वह हर जगह जा घुसती है। निर्वाचन-प्रणाली भी इससे मुक्त नहीं है। चुनाव लड़नेवालों से बहुत अधिक संख्या में चुनाव लड़ाने वाले होंगे। अगर वे लालच में फँस गये, चुनावों को आय का साधन मान लिया तो योग्य व्यक्तियों के आनेकी आशा दुराशामात्र है। आजके प्रत्येक चेतनाशील व्यक्ति का कर्तव्य है कि इस बुराई की ओर जनता का ध्यान खींचे, उसे समझाये, जो व्यक्ति चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए अपने आपको बेच सकता है, वह योग्यता का समर्थन करे--ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

म्युनिसिपल चुनाव में भी ऐसी बुराइयाँ कम नहीं होतीं। अब राष्ट्रव्यापी चुनाव सामने आरहा है। अनेक पार्टियाँ चुनाव लड़ने की तैयारी में लग रही हैं किन्तु 'मत' देनेवाला विशाल जन-समूह प्रलोभन की बुराई से बचने को तैयार है या नहीं इसकी चिन्ता कौन करे ?

हमें इस बुराई को मिटाने के लिए प्रबल आन्दोलन छेड़ना चाहिये। हमारा कर्तव्य है कि मतदाता अपनेआपको न बेचे यह आवाज कम से कम उसके कानों तक पहुंचायें। मुझे आशा है इससे स्थिति बहुत सुधरेगी।

चरित्र का विकास हुए बिना योग्यता ऊँची नहीं उठ सकती। प्रत्येक जिम्मेवार व्यक्ति को चरित्रवान् होना अत्यन्त जरूरी है।

इसलिए चरित्रहीनता को खत्म करने के लिए मैं सब वर्गों को आह्वान करता हूं और आशा करता हूं कि इस पुण्य कार्य में सबका सामूहिक सहयोग होगा।

उच्च अधिकारी वर्ग सिर्फ जनता से चरित्र और संयम की अपेक्षा रखें। यह गलत रास्ता है। उन्हें अपनेआपको भी ऐसा बनाना चाहिये। वे स्वार्थ में चलें, अपनों का भरणपोषण करने की नीति को ही चलायें तो स्थिति सुलझ नहीं सकती। मेरा सबसे अनुरोध है कि सभी लोग स्वार्थ त्याग के आदर्श पर चलें। उससे ही स्वतंत्रता का मूल्य बढ़ सकता है। मुझे विश्वास है कि भारतके अध्यात्मवादी लोग अहिल्याको पत्थरसे वापिस चेतन बनने की श्रुति को प्रमाणित करेंगे।

दिल्ली १५, अगस्त ५१

[स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर]

अहिंसा का आधार

अहिंसा-दिवस का कार्य-क्रम बड़े अच्छे ढंग से चला। विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों ने अहिंसा पर अपने विचार व्यक्त किये। जनता ने बड़े धैर्य और सहिष्णुता के साथ सब बातें सुनीं। यह प्रसन्नता की बात है। धार्मिक सहिष्णुता और विचारों के विनिमय से एकदूसरे के निकट आसकते हैं। यह उचित है।

जैसा कि मौलाना हबीबुर्रहमान ने कहा—आज रोजा का दिन है, सही है। आज लाखों व्यक्ति उपवासी हैं। इन्द्रिय-निग्रह और मन की शान्ति के लिए उपवास आवश्यक व्रत है। साम्वत्सरिक-पर्व अहिंसा और समता का प्रतीक पर्व है। इसका अहिंसा-दिवस के रूपमें उपयोग किया है। यह और भी अच्छा हुआ है।

अहिंसा के बारे में मैं भी कहूं, आलोचना के साथ-साथ समन्वय की दृष्टि से। जैसा कि गोस्वामी गिरधारीलालजी ने कहा—अहिंसा से पहले हिंसा है। शाब्दिक दृष्टि से यह ठीक है। न+हिंसा=अहिंसा। हिंसा के निषेध से अहिंसा शब्द बनता है। हिंसा को समझे बिना अहिंसा को समझना भी कठिन है। इसलिए उचित होगा कि अहिंसा से पहले हिंसा को समझलें।

व्यवहार में दूसरे को सताना, मारना हिंसा है। निश्चय में अपनी असत् प्रवृत्ति हिंसा है। इसका विपरीत तत्त्व अहिंसा है। अहिंसा किसलिए है, यह भी समझना चाहिए। क्या अहिंसा दूसरों को सुखी बनाने के लिए है? नहीं। मेरी दृष्टि में यह अपनी वृत्तियों को सुधारने के लिए है। अहिंसा से लोग सुखी बनते हैं, यह उसका प्रासंगिक फल है। मुख्य फल तो अपनी वृत्तियों का सुधार यानी आत्म-शुद्धि ही है। एक-एक आदमी सुधर जाय फिर किसी को कष्ट क्यों हो? इसलिए अहिंसा का कलेवर नकारात्मक गढ़ा गया है। यह विधेयक नहीं है सो बात नहीं किन्तु अध्यात्म-दृष्टि से 'बचाओ' की अपेक्षा 'मत मारो' अधिक व्यापक है।

अहिंसा अभय है, इसलिए कायरता या कमजोरी का इससे कोई वास्ता नहीं। अहिंसा और कायरता का वही सम्बन्ध है जो ३६ अंक में दो 'तीओं' का है। बड़ों की रक्षा के लिए को मारना हिंसा नहीं है, यह मानना अहिंसा को

है। कई दर्शन प्राणीमात्र को ईश्वरीय-अंश मानते हैं तो कई चैतन्य की दृष्टि से जीवमात्र को समान मानते हैं।

मारे बिना रहा नहीं जा सकता, यह बात और है किन्तु वह अहिंसा कैसे? कुछ न कुछ रूपमें हिंसा के बिना काम नहीं चलता, इसका अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य हिंसा को अहिंसा माने, हिंसा न छोड़ सके यह मानवीय जीवन की कमजोरी है पर उसे अहिंसा मानने की दोहरी गल्ती क्यों करे? यह समझ में नहीं आता।

भगवान् महावीर ने हिंसा के दो भाग किये हैं—हिंसा और आक्रामक हिंसा। हिंसा को न छोड़ सके तो कमसेकम आक्रान्ता तो न बने, शोषण तो न करे। हिंसा और अहिंसा को केवल भावनाश्रित ही मानना उचित नहीं। कार्य्यों से भी उनका औचित्य-अनौचित्य का सम्बन्ध जुड़ता है। जैसा कि श्री गुलजारीलालजी नन्दा ने अभी कहा था कि अहिंसक को अपने योग्य कर्तव्यों की भी एक सूची रखनी होती है। जिस हिंसा के बिना काम न चले उसको अगर अहिंसा माना जाए तो फिर किसान की तरह धीवर को भी अहिंसक क्यों न माना जाए? मच्छीमार समाज के लिए ही तो मछलियों का व्यापार बढ़ाता है। शाकाहारी के लिए जो स्थान किसान का है वही मांसाहारी के लिए धीवर का है। सही अर्थ में तो दोनों ही अपनी आजीविका के लिए काम करते हैं। आजीविका न मिले तो न किसान खेती करे और न मच्छीमार मछलियां पकड़े।

हिंसा खेती में भी होती है और मछली पकड़ने में भी। खेती के लिए बन्दर भी मारे जाते हैं। खैर, मेरा तात्पर्य यही है कि आवश्यक हिंसा को अहिंसा मानने की भावना क्यों? यह मनुष्य की कमजोरी है। यह अपने कार्य को ठीक नहीं तोलता।

सम्पूर्ण अहिंसा जीवन में न उतर सके तो कम से कम विवेक तो ठीक होना चाहिए। हिंसा करनी पड़ती है इसके बदले 'अहिंसा करता हूं' यह तो नहीं समझना चाहिए। अपनी रक्षा के लिए भी शत्रुपक्ष को मारना अहिंसा नहीं है। आक्रान्ता को मारकर आप हिंसा मिटाना चाहें, यह अहिंसा का तरीका नहीं। किसी को मारकर आप अन्याय का प्रतिकार कर सकते हैं, जो कि सामाजिक व्यवस्था में न्याय माना गया है किन्तु अहिंसक नहीं बन सकते। अहिंसा तो उसके तरीके से ही हिंसा का सामना करने से हो सकती है। धर्म के लिए हिंसा हो यह अहिंसा है—मुझे ये शब्द बिल्कुल नहीं भाते। धर्म स्वयं अहिंसामय है उसके लिए हिंसा, यह क्या? थोड़े में यही समझो कि आत्म-साधना के क्षेत्र में परिपूर्ण अहिंसा है। भौतिक संरक्षण में आप सब जगह अहिंसा से सफल हो सकते हैं, यह सम्भव नहीं, किन्तु उसके लिए बढ़ती गई हिंसा को अहिंसा मानें यह गलत दृष्टिकोण है।

अहिंसा गृहस्थ-जीवन में कैसे उतरे, इस पर भी कुछ कहना है। इस पर कॉन्स्टीट्यूशन क्लब में प्रवचन के समय भारतीय लोकसभा के उपाध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने भी

जिज्ञासा की थी। जीवन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसमें कामों की बड़ी शृंखला है। थोड़े में दो एक बातों की ओर संकेत करता हूं। दिशासूचन से मार्ग दूर नहीं रहेगा।

व्यापार-क्रय-विक्रय, आदान-प्रदान, समाज के लिए आवश्यक होता है। यह अहिंसामय है यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु उसमें अन्याय न करे, शोषण न करे, कूट-तोल-माप न करे, झूठा दस्तावेज न बनाये, मिलावट न करे, विश्वासघात न करे—इनसे आत्म-पतन होता है, इसलिए न करे। यह व्यापार के क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग है। किसी भी हालत में हिंसा अहिंसा हो सकती है, एक अहिंसक होने के नाते मैं यह नहीं मान सकता।

युद्ध हिंसा का परिणाम है चाहे वह किसी रूप में हो, उसमें भी अहिंसा बरती जासकती है। युद्ध अहिंसा नहीं किन्तु उसमें अहिंसा के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र खुला है, जैसे—आक्रान्ता न बने, निरपराध को न मारे, कम से कम नागरिकों को तो न मारे, अपाहिजों के प्रति क्रूर व्यवहार न करे।

सतीत्व की रक्षा का भी एक प्रश्न है। उसका अहिंसक रूप आत्म-बल है। सती अपनी आत्म-शक्ति से ही अत्याचार को रोके। यदि उसका बल न चले तो वह समता के साथ शरीर-त्याग करदे। दूसरा कोई व्यक्ति पास में हो तो उसका कर्तव्य यही है कि बलात्कारी को समझाये, हृदय बदलने की चेष्टा करे। उसके लिए मृत्यु भी होजाय तो कोई बात नहीं। अहिंसा का

मार्ग तो इतना ही है। कोई धृष्ट व्यक्ति अहिंसक प्रयोग की अवहेलना करे तो वहां सामाजिक प्रतिकारका भी आश्रयण होता है। किन्तु वह अहिंसा से नहीं जुड़ता।

अहिंसा ही एक मात्र शान्ति का मार्ग है। हिंसा शान्ति-साधना में पूर्ण विफल रही है और रहेगी। इसलिए शान्ति-प्रेमी व्यक्तियों से मैं अनुरोध करता हूं कि वे अहिंसा को विकसित करने की चेष्टा करें।

परिस्थितिवश असत्य बोलना धर्म और सत्य बोलना अधर्म होता है यह दृष्टिकोण भी सही नहीं है। शिकारी को हिरन के बारे में उत्तर देने जैसे प्रसंगों में हिंसा से बचाव करने का उपाय असत्य बोलना नहीं किन्तु मौन है। इधर से हिरन गया या न गया कुछ भी न बोले।

हिंसा के लिए भी यही बात है। परिस्थितिवश हिंसा-अहिंसा नहीं बनती। यह जरूर है कि परिस्थितिवश मनुष्य हिंसोन्मुख बन जाता है।

अहिंसा का साधन हृदय-परिवर्तन ही है, बलात्कार नहीं। सुख का साधन बने या न बने, कम से कम दुःख का साधन तो न बने; संतापहारी बने या न बने, कमसे कम संतापकारी तो न बने।

[ता०-६-६-५१ को दिल्ली में आयोजित
अहिंसा-दिवस के अवसर पर]

उत्तरदायित्व का परीक्षण

भाद्रशुक्ला नवमी का दिन मेरे उत्तरदायित्व का दिन है। लोग समझ रहे हैं, मेरा अभिनन्दन होरहा है और मैं भारसे नत हो रहा हूँ। जिम्मेवारी लेना आसान है किन्तु उसे निभाना कितना कठिन है, इसे वही समझता है जिसपर वह होती है।

मैं देखता हूं तीन वर्षों से ठीक इस दिन वर्षा होती आ रही है, आज भी हुई, इसलिए कार्य-क्रम में कुछ विलम्ब भी हुआ है किन्तु लोगों के लिए वह भी इस उत्सव में एक दूसरा उत्सव है। हाँसी-चातुर्मास में मैंने पिछले वर्ष का लेखा-जोखा लोगों के सामने रखा था। इस वर्ष का सिंहावलोकन आज करना है।

यह वर्ष लक्ष्य-सिद्धि की दृष्टि से बड़ा सफल रहा है। कार्य-सम्पादन में मेरा साधु-संघ तो सहयोगी है ही, किन्तु गृहस्थों ने भी बड़ी तन्मयता से निरवद्य सहयोग किया है क्योंकि

आखिर अकेला व्यक्ति क्या कर सकता है? सबका सहयोग हो तभी काम ठीक चलता है। इस वर्ष की मीलों लम्बी यात्रा में मेरा प्रमुख कार्य-क्रम रहा—विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से निकट-सम्पर्क। इसके दौरान में मैंने सर्व-धर्म-सम्मेलन किये कि आज धार्मिक लोग द्वेष-भावनायें भुलाकर एक दूसरे के निकट आयें, यह समय की मांग है। मुझे खुशी है कि वे बड़े सफल रहे। प्रायः प्रमुख धर्मों के प्रतिनिधि उनमें आये, अपने विचार व्यक्त किये। सबको एक दूसरे के विचारों को जानने का मौका मिला।

जैन-एकता की दृष्टि से जैन-सम्मेलन भी किये। जैनों को आपस में कैसे समन्वय दृष्टि से कार्य करना चाहिए इस पर काफी विचार-विमर्श हुआ। मेरा विश्वास है कि उस दिशा में भी प्रगति हुई है।

स्कूलों, कालेजोंमें भाषणोंका तांता जुड़ा रहा। आध्यात्मिक, नैतिक और व्यावहारिक प्रश्नोत्तर होते, उसके सहारे मैंने विद्यार्थी-मानस का अध्ययन किया और यह अनुभव किया कि वे आज योग्य शिक्षा नहीं पा रहे हैं।

व्यापारी, वकील और महिला इनके भी सम्मेलन हुए। अणुव्रत-सम्मेलन के बिना शायद कोई शहर बाकी नहीं रहा होगा। लोगों को अणुव्रतों की आवश्यकता समझाई गई। कॉन्स्टीट्यूशन क्लब में भी प्रवचन किया। वहां सदस्यों [illegible] की प्रेरणा दी।

मुझे प्रसन्नता है कि मैं जिस पथपर चला हूं उसमें सफल हुआ हूं। कोईभी एक व्यक्ति सबको अपने विचारों के अनुकूल बना सके, यह कठिन है। नैतिक पथपर कम लोग आते हैं, इससे हमें निराश होने की जरूरत नहीं। हमारी विचार-धारा सही है। हमारा प्रयास मार्ग पर है।

नैतिकता का यह प्रयास मैं ही नहीं मेरे साधु-साध्वियों के ११५ सिंघाड़े (ग्रूप्स) भारत के कोने-कोने में कर रहे हैं। मैंने जगह-जगह से आये हुए बड़े उत्साह-वर्द्धक समाचार सुने है। यह कार्य चलरहा है, इसमें कोई गर्व नहीं। हमने किया तो आखिर किया क्या, अपना कर्तव्य ही तो पाला।

आप यह जानते हैं कि मैं एक संस्था का संचालक हूं। उसका नेतृत्व मेरे जिम्मे है। यह एक बड़ी धार्मिक संस्था है। इसके पीछे २०० वर्षों का इतिहास है। इसकी अपनी परम्पराएँ हैं। लाखों अनुयायी हैं, सभी तरह के हैं। सब एक आचार्य के नेतृत्व में हैं। आचार्य के विचारों के अनुकूल चलनेवाले हैं। फिर भी 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' यह होता है। कई लोग मुझसे कहते हैं आप साधुओं को गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले में व्याख्यान देने को भेजते हैं, क्या इससे हमारे साधुओं की प्रतिष्ठा में कमी नहीं आती ? मैं समझता हूं वे उलझेहुए हैं। वस्तुस्थिति को ठीक नहीं आंकते। प्रथम पूज्य आचार्य भिक्षु का महान् आदर्श मेरे सामने है। उन्होंने साधुओं से कहा—"जाओ धर्म का प्रचार करो। लोगों को समय कम

मिलता हो तो दूकानों में चले जाओ। वहाँ बैठ जाओ, जब दूकान के कार्य से अवकाश मिले तब उन्हें समझाओ। धर्म का उपदेश दो।

देखा आपने यह कैसी धारा है। मुझे इससे अटूट बल मिलता है। मैं इसी अवलम्बन पर चलता हूं। गल्ती होना सम्भव है। मैं नहीं मानता कि छद्मस्थ से गल्ती होती ही नहीं। किन्तु जहांतक मैं अनुभव करता हूं मैं भूलपर नहीं हूं, भूल न हो इसीमें सफलता है। जनता ने इस नैतिक कदम को कैसे आंका, यह भी देखा। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि जनता ने सही आंका है।

आजका युग राजनैतिक युग है। लोग जितनी दिलचस्पी राजनीति में लेते हैं, उतनी नैतिकता में नहीं लेते।

हमारा दृष्टिकोण केवल प्रचारात्मक नहीं है। हमारा प्रचार भी आचार-मूलक होना चाहिये। राजनीति का बोलबाला रहेगा तबतक स्थिति सुधरेगी नहीं। उसमें त्याग और चारित्र को प्रश्रय मिलेगा तभी लोग शान्ति की सांस लेसकेंगे। जो लोग सफल सैनिक की भांति नैतिकता के संग्राम में उतर आये हैं, उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है किन्तु फिर भी वे अपने पथपर अडिग हैं। यह उनके साहस का परिचय है।

मैं कार्यकर्ताओं से भी कहूँगा कि जहाँ नामके लिये काम की भावना होती है वहाँ दोष बढ़ जाते हैं किन्तु जहाँ काम के लिये काम की भावना होती है वहां कोई बुराई नहीं पनपती।

तेरापन्थी श्रावकों को इस धार्मिक यज्ञ में अधिक योग देना चाहिये। उनपर इसका विशेष उत्तरदायित्व है—मेरा सच्चा अभिनन्दन तभी है।

[ता० ९-९-५१ को दिल्ली में आयोजित
पट्टोत्सव के अवसर पर]

धर्म और कला

"सव्वं विलविअं गीअं, सव्वं नट्टं विडंबिअं
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा।"

"सब गीत विडम्बनाएँ हैं, सब नाट्य विडम्बनाएँ हैं, सब आभरण भार हैं, सब काम दुःखदायी हैं।" यह है भगवान् महावीर की वाणी।

लोग चौंकेंगे, धर्म-परिषद् में नाट्यकला, संगीतकला के बारे में कोई भाषण क्यों दे? पहले चौंकें नहीं, पूरा सुनलें। भगवान् महावीर ने दूसरी ओर यह भी कहा है—सब कलाएँ क्षयोपशम भाव हैं, चाहे फिर संग्राम की कला भी क्यों न हो।

भाव तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञेय, हेय और उपादेय हेय, उपादेय की सीमा होती है किन्तु ज्ञेय सभी भाव हैं। जब हमने यह स्वीकार करलिया कि सभी भाव ज्ञेय हैं तब

हमारे अनुयोगद्वार सूत्र में संगीत का बड़ा लम्बा-चौड़ा वर्णन है। राजप्रश्नीयसूत्र में नाट्य का सांगोपांग वर्णन है। और भी आगम-शास्त्रों में कला का जगह-जगह वर्णन है। यदि वह हमारे लिये अश्राव्य ही होते तो क्यों लिखे जाते ? कला वस्तु क्या है ? बैठने में कला, उठने में कला, बोलने में कला, प्रत्येक कार्य में कला। सभा में आये और सभा की कला न जाने तो वह सभ्य कैसे हो सकता है ? पीछे से आये और बैठना चाहे सबसे आगे, यह क्या है ? सभा की कला को न जानने का परिणाम है।

हमारे शासन में कला के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस विषय में हम पूज्यपाद जयाचार्य के बड़े ऋणी हैं। उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में साधु-संघ को कलामय बनाया। साधुओं को स्थापत्य कला की भी जरूरत पड़ती है। वे अपने उपयोग की कई चीजें उसके द्वारा बनाते हैं। लिपिकला में हमारे साधु-साध्वियों ने सफल विकास किया है। एक पत्र में अढ़ाई हजार श्लोक—अस्सी हजार अक्षर लिखना दुनियां के आश्चर्यों में से एक बड़ा आश्चर्य है। इसमें तन्मयता की समग्रता के दर्शन होते हैं। यह साधना की स्थिरता का एक सजीव प्रमाण है।

काव्य-कला में हमारे साधु बड़ा रस लेरहे हैं। आशु कविता उनके होठों पर खेल रही है। जैसे बातें करते, वैसे श्लोक रचते हैं, कोई दुविधा नहीं। चित्रकला में भी बहुत प्रगति हुई है। मैं अभी पर्याप्त तो नहीं मानता फिरभी तुलनात्मक दृष्टि

से आगे से आगे विकास नजर आरहा है। संगीत में भी साधुओं की अभिरुचि है, यथेष्ट विकास कर रहे हैं।

लोगों का दृष्टिकोण उदार होना चाहिए। ज्ञान की सीमा संकुचित नहीं होनी चाहिए। वास्तविकता को समझने की चेष्टा होनी चाहिए। लोग सही स्थिति को बहुत कम आंकते हैं।

सुनाजाता है कि आजकल सिनेमा आदि का उद्देश्य भी शिक्षा देना है किन्तु वह उद्देश्य है कहाँ, समझ में नहीं आता। बनानेवालों और चलानेवालों का उद्देश्य बोलता है— "भज कल्दारम्, भज कल्दारम्।" प्रायः सिनेमा और नाटक विलासिता के अड्डे बनरहे हैं। उनमें आज विलासिता की बाढ़ सी आरही है। आप भूले नहीं होंगे जो संगीत, नाट्य या कला शुभयोगमय नहीं हैं, आत्मविकास के पोषक नहीं हैं, ये सब विडम्बनाएं हैं। इसलिए फिर एकबार उसी वाक्य को याद कीजिये—

"सव्वं विलंविअं गीअं, सव्वं नट्टं विडंबिअं
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा।"

[ता० २३-१०-'५१ को दिल्ली में आयोजित
विचार-परिषद् के अवसर पर]

आध्यात्मिक प्रयोगशाला—दीक्षा

मनुष्य का जीवन ज्ञान-विज्ञान की एक बहुत बड़ी प्रयोग-शाला है। इसमें इतने प्रयोग हुए हैं कि जिनका शतांश भी नहीं पकड़ा जासकता। जितनी अभिरुचियाँ हैं उतने ही प्रयोग। यह एक बड़ी कहानी है। थोड़े में, इनकी दो मुख्य धाराएं रही हैं—शारीरिक और आत्मिक। शारीरिक प्रयोग की चर्चा में मुझे यहाँ नहीं जाना है। आध्यात्मिक प्रयोग के बारे में कुछ बताऊँ—ऐसा संकल्प है।

आत्मिक प्रयोगों की साध्यभूमि है—अन्तरङ्ग-शुद्धि। इस पर चलनेवाला अपने को अपनी भाषा में साधक बताता है। जनता की भाषा भी उसके लिए यही है। साधना नैतिक क्षेत्र में भी जरूरी है किन्तु वह सीधा, सहज और स्वतः प्रिय कार्य है, इसलिए वहाँ साधना शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती। अपनी

यों दूसरे शब्दों में अपना नियंत्रण सहज होना चाहिए किन्तु है नहीं। उसके लिए बड़े-बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं। यही कारण है कि उसके लिए 'साधना' शब्द का एकतंत्र प्रयोग होता है। 'साधना का मार्ग टेढ़ा है' यह कहते ही आत्म-संयम की तस्वीर आँखों के सामने खिंच जाती है।

साधना के दो मार्ग

साधनाका क्षेत्र खुला है। उसका छोटा रूप अणु जितना है तो बड़ा रूप अखंड विश्व जितना। साधनाका मुख्य मार्ग योग है। योग का अर्थ है जुड़ना। जो अपनी वृत्तियों को आन्तरिक विशुद्धि से जोड़ले, वही तो योगी है। इसीका नाम जीवन-मुक्त दशा है। जो जीता हुआ मुक्त है, इसका अर्थ यह होगा कि वह निष्क्रिय नहीं है। जीवन चलाने की आवश्यक प्रवृत्तियाँ करता है किन्तु उनमें अनासक्त रहता है। वह खाता है किन्तु उसका खाना खाने के लिए नहीं, सिर्फ निर्वाह के लिए होता है।

अनाशक्ति अपनी आत्मीय वृत्ति है। यह बाहरी उपकरणों से दबी रहती है। मनुष्य जानता ही नहीं, अच्छी तरह से जानता है कि सोना-चाँदी मुझसे भिन्न वस्तु है, फिरभी वह उनमें बँधजाता है। बँधता भी इतना है कि उनका संग्रह करते-करते वह तृप्ति का अनुभव भी नहीं करता। यही एक कारण है कि जिनमें अनासक्ति का भाव प्रबल होजाता है वे उपकरणों को यानी धन, धान्य, आदि जीवन निर्वाह को [illegible] कि‍ञ्चनता की ओर [illegible]

यहां आकर साधना के क्षेत्र में दो रेखाएँ खिंच जाती हैं—गृहस्थ-साधक और संयमी-साधक। गृहस्थ के लिए अणुव्रत हैं। आज के युग में अणुव्रत-दीक्षाका भी कम महत्त्व नहीं है, महाव्रत-दीक्षा का तो है ही।

दीक्षा वही है जो पूर्ण संयमकी साधनाका व्रत है। जैन-धर्म इस प्रक्रियाको कैसे सम्पन्न करता है, यह बतलाने के लिए मैं जैन-दीक्षाकी कुछ विवेचनाको आवश्यक समझता हूं। विभिन्न धर्मोंकी दीक्षा-प्रणालियां विभिन्न हैं इसलिये आवश्यक होता है कि मैं आपको जैन-धर्मकी दीक्षा-पद्धतिसे परिचित कराऊँ। जैन-दीक्षा का अर्थ है—सर्व सावद्य-योग—आत्म-मुक्ति की बाधक प्रवृत्तियों का त्याग। इन्हें पांच भागोंमें बाँटा है:—

जैन-दीक्षा

१-हिंसा—असत्-प्रवृत्ति, असत्-भाषा, असत् विचार, मिथ्या आग्रह।

२-असत्य—अन्यथा कहना, भाव-कुटिलता, भाषा-कुटिलता-कहनी-करनी में अन्तर।

३-चोरी—परवस्तु लेना, अधिकार छीनना, ठगना।

४-अब्रह्मचर्य—संभोग, मन, वाणी और शरीर का असंयम।

५-परिग्रह—ममत्व, धन-धान्य का संग्रह, आसक्ति।

दीक्षाका इच्छुक व्यक्ति गुरुकी साक्षीसे आजीवन

इन्हें छोड़ने की प्रतिज्ञा लेता है—पांच महाव्रत स्वीकार करता है—

१-अहिंसा—मैं आजसे आजीवन मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा न करूंगा, न कराऊंगा और न करते हुए को अच्छा समझूंगा।

२-सत्य—मैं आज से आजीवन मनसा, वाचा, कर्मणा न असत्य बोलूंगा न बुलाऊँगा और न बोलनेवाले को अच्छा समझूंगा।

३-अचौर्य्य—मैं आजसे आजीवन मनसा, वाचा, कर्मणा न चोरी करूंगा, न कराऊँगा और न करते हुए को अच्छा समझूंगा।

४-ब्रह्मचर्य्य—मैं आजसे आजीवन मनसा, वाचा, कर्मणा न अब्रह्मचर्य्य का सेवन करूंगा न कराऊँगा और न करते हुए को अच्छा समझूंगा।।

५-अपरिग्रह—मैं आजसे आजीवन मनसा, वाचा कर्मणा परिग्रह न रखूंगा न रखाऊंगा न रखते हुए को अच्छा समझूंगा।

दीक्षा जीवन का महान् आदर्श है। चिरसंचित शुद्ध संस्कारों बिना इस ओर मनुष्य का मन ही नहीं जाता। आजके भौतिक वातावरणमें जहां चारों-ओर वासना-पूर्ति की होड़ लगरही है वहां ...को ठुकरानेवालों की मनोवृत्ति कितनी ऊंची है, जरा

...ुख-शांतिका
...पथ-दर्शन

देखिए। इच्छाओं और आवश्यकताओं को ज्यों-त्यों पूरा करना ही मनुष्य अपना लक्ष्य मान बैठा है। इस हालत में उन सबको कुचलकर सुख-शान्ति में रहनेवाला संयमी क्या शेष व्यक्तियों के लिए पथ-दर्शक नहीं बनता ? बनता है, अवश्य बनता है।

विश्व की गति किस ओर ?

आज के अशान्त संसार को त्याग के आदर्श की सबसे अधिक आवश्यकता है। मनुष्यकी अशान्ति का मूल कारण आकांक्षाकी अ-सीमा है। जिस गतिसे महत्त्वाकांक्षा बढ़ रही है, आखिर वह कहाँ रुकेगी ? अगर रुकेगी ही नहीं तो उसका परिणाम क्या होगा ? यह प्रश्न क्यों नहीं उठता ? कोई साम्राज्य-विस्तार का लिप्सु है तो कोई अपने अधिकारों को सार्वभौम बनाने की लगन में है। कोई धनके बलपर, कोई सत्ता के बलपर, कोई शस्त्रास्त्र के बल पर, दूसरों पर हावी होने की बात सोच रहा है।

दुनिया अपने अधिकारोंको अपने तक ही सीमित कर रखने में सन्तोष नहीं मान रही है। यही अशान्ति का बीज है। दीक्षा का आदर्श है—"अपने आपमें रमण करना।" क्या ही अच्छा हो आज का संसार इस आदर्श को देखता चले !

विश्व शान्ति और दीक्षा

अशान्ति से झुलसते हुए संसार को आज सबसे अधिक शान्ति की प्यास है। सुख गरीब, मजदूर, शासित और शोषित को नहीं है तो शान्ति अमीर, मालिक, शासक और शोषक को भी नहीं है यानी

किसीको भी नहीं है। भौतिक सुखका मार्ग सामाजिक व्यवस्था के उलट-पुलट से शायद मिलभी जाये किन्तु शान्ति का मार्ग आध्यात्मिक जागृति के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं। दीक्षा उसका एक उत्कृष्ट रूप है—राजपथ है। सामान्य जीवन में उससे प्रेरणा मिलती है।

देखिए—वह जीवन कितना पवित्र जीवन है जिसमें अमीरी नहीं, गरीबी नहीं, मजदूर-मालिक, शासक-शासित आदि का कोई भाव नहीं, दीक्षा का छाया-चित्र भी जनता के मानस पट पर खींचा रहे तो निश्चय ही स्वार्थकी टक्करें, पदप्रतिष्ठाकी भूख, नाम और बड़प्पन की लालसा, अधिकार और सत्ता का भार, शोषण और संग्रहका जुआ, सत्ता और कूटनीति का उन्माद दूर होजाय। विश्व फिर एकबार शान्तिकी शिशिर सांस लेसके।

तेरापन्थ में दीक्षा और अनुशासन

हमारे यहां एकमात्र आचार्य्यको ही दीक्षा देनेका अधिकार है। इसका कारण है - शिष्य लोलुपता न बढ़े, अयोग्य दीक्षा न हो। दीक्षित होनेवाला व्यक्ति विरक्त साधनाके उचित नियम व तत्वोंका जानकार होना चाहिए। घरके सगे-सम्बन्धियों की लिखित व मौखिक स्वीकृति मिलनेपर ही दीक्षा दी जासकती है, अन्यथा नहीं।

दीक्षार्थी की भावना की पूरी जांच होती है। प्रायः कई वर्षों की कठोर परीक्षा के बाद दीक्षा-कार्य्य संपन्न होता है। दीक्षित होने के बाद वह किसीपर भार नहीं बनता।

हमारे साधुओं का जीवन बहुत से कामों में स्व

समाज से केवल थोड़ा-बहुत आहार-पानी, कपड़ा लिया जाता है। वहभी अतिरिक्त नहीं। उनकी आवश्यकताओं का एक छोटा हिस्सा, वह भी ऐसा कि जिसके बदलेमें वे संयम करें, इसकी पूर्ति न करें। साधुओं का जीवन अध्ययन, अध्यापन, चारित्र्य-उत्थान, धर्मोपदेश, लेखन, साहित्य-निर्माण आदि सत्प्रवृत्तियों में लगता है। अपनी और पराई भलाई का उद्देश्य लिए हुए ये महापथ के पथिक दुनियांके लिए प्रकाश-पुञ्ज का काम करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस पवित्र भूमिका पर होनेवाली दीक्षाएँ भारतीय संस्कृति को अखण्ड बनाये रखती हैं। जनता को चाहिए कि वह इस महान् सांस्कृतिक परम्परा का सही मूल्य आंके।

[ता० ११-११-५१ को दिल्ली में आयोजित दीक्षा-समारोह के अवसर पर]

जीवन-कल्प की दिशा

जीवन सूना होता है। जीवन के काम सूने होते हैं। समझने की हविश नहीं उठती, जबतक चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा रहे। आलोक की एक छोटीसी रेखा जीवन को जगा देती है। इससे जीवन-कल्प होता है। मनुष्य के मनन का वेग—"मैं कौन हूं, कहांसे आया और कहां जानेवाला हूं"—यहीं पर नहीं रुकता, वह आगे बढ़ता है, सक्रिय बनकर बढ़ता है। और वहांतक बढ़ता है जहांतक बढ़ने का कुछ अर्थ होता है।

सरदारशहर (१९५२)

अहिंसा-दर्शन

अहिंसा का इतिहास मनुष्यता के इतिहास से कम पुराना नहीं है। अहिंसा आरंभ से ही मानवीय गुणों की आधारशिला रही है। उसका मुख्य रूप आध्यात्मिक रहा है, फिर भी वह व्यावहारिकता से दूर कभी नहीं हुई। अहिंसा को समझने से पहले हिंसा को समझना आवश्यक है। व्यवहार में प्राणी को मारना, सताना हिंसा है और तत्त्वदृष्टि से रागद्वेषयुक्त प्रवृत्ति हिंसा है अथवा रागद्वेष से युक्त प्रवृत्ति से किया जानेवाला प्राणवध हिंसा है। अहिंसा हिंसा का प्रतिपक्ष है। दूसरे शब्दों में आत्मा की शुद्ध या स्वाभाविक स्थिति अहिंसा है। उसके वर्गीकृत दो रूप हैं :—निषेधक और विधायक।

निषेधक अहिंसा

मत मारो, मत सताओ, बुरी जबान मत कहो, अनिष्ट मत सोचो—में प्रायः पूर्ण सामंजस्य है। भगवान् महावीर ने

कहा—"प्राणीमात्र का वध मत करो, पीटो मत, डराओ मत, दासदासी मत बनाओ।' विरोध भाव मत रखो।' त्रास मत पहुंचाओ।' हुकूमत मत करो।' सबको आत्मतुल्य समझो।"

महात्मा बुद्ध ने कहा—"अहिंसा सब प्राणियों के लिए आर्य है। बौद्ध भिक्षुओं के 'दश शिक्षापदों' में और गृहस्थों के 'पंचशीलों' में अहिंसा का पहला स्थान है। जीव-हिंसा करना दुराचरण है, जीव हिंसा न करना सदाचरण है।"

"सब भूतों की हिंसा मत करो"—उपनिषद् की भाषामें भी अहिंसा का वही स्थान है जो श्रमण-नेताओं की भाषा में।

महात्मा गांधी के शब्दोंमें—"अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव" यह अहिंसा का स्वरूप है।

यही बात महात्मा ईसा ने अपनी दश आज्ञाओं में कही है—"तुम्हें हत्या नहीं करनी चाहिए।"

---

१ आचारांग अ० १, ४/१
२ सूत्रकृतांग १, १५/१३
३ उत्तराध्ययन २/२०
४ सूत्रकृतांग २, १/१५
५ सूत्रकृतांग १, २/३/१२
६ धम्मपद धर्मार्थवर्ग १४
७ छान्दोग्य अ ८
८ मंगल प्रभात पृष्ठ ८१

"इस भूमि पर कोई पशु-पक्षी ऐसा नहीं है जो कि तुम्हारे समान ही अपने प्राणों से प्यार न करता हो"—इस्लाम धर्मका यह वाक्य किसी भी अहिंसक धर्म से कम पवित्र नहीं है। मुहम्मद साहब की शिक्षा थी कि "किसी भी प्राणी के साथ चाहे वह पशु हो या पक्षी, निर्दयता नहीं करनी चाहिए क्योंकि सभी इस जीवन के बाद खुदा के पास वापिस जायेंगे।"[१२]

चीनी संस्कृति में अहिंसा का अभावात्मक रूप 'पुदाई' पीड़ा न पहुंचाना मानागया है। टालस्टाय के अनुसार अहिंसा का अर्थ है, दूसरे के प्रति किसी भी प्रकार का बलप्रयोग न करना। अहिंसा के अभावात्मक रूप का यह एक विहंगावलोकन है। पूर्वी और पश्चिमी सभी धर्म-प्रवर्तकों और विचारकों के विचारों में द्वैत नहीं दीखता। इसके प्रयोग और सीमा में तारतम्य अवश्य है।

जैनधर्म में प्रत्येक स्थिति में अहिंसा उपादेय मानीगई है। हिंसा जीवन की कमजोरी है। वह किसी भी स्थितिमें स्वीकार नहीं है। मुनि के लिए हिंसा सर्वथा—मनसा, वाचा, कर्मणा, कृत, कारित, अनुमतिसे त्याज्य है। गृहस्थ अर्थ-हिंसा—अनिवार्य या प्रायोजनिक हिंसासे न बचसके तो अनर्थ-हिंसा जो जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक नहीं है, से अवश्य बचे। किन्तु हिंसा से नहीं बच सकता और अहिंसा एक नहीं है। हिंसा

---

१ कुरान ६/३८

२ कुरान ६/३८

हिंसा है, उसमें देश, काल और परिस्थितिका अपवाद नहीं होसकता। "आपत्काल में हिंसा का प्रयोग होना चाहिए"— जैनधर्म यह सम्मति कभी नहीं देता। बौद्धधर्म की स्थिति भी करीब-करीब ऐसी ही है। एक थोड़ा अन्तर है—निर्जीव प्राणी का मांस खाने में जैन जहां प्रमादाचरित हिंसा मानते हैं, वहां बौद्ध इसे हिंसा नहीं मानते।

वैदिक साहित्य में आपत्काल में हिंसा का विधान है। केवल विधान ही नहीं इस हिंसाको अहिंसा कहागया है। महात्मागांधी अहिंसा के क्षेत्रमें बलप्रयोग का समर्थन नहीं करते किन्तु उनके अनुसार पशुपक्षियों के प्रति अहिंसक होने का अर्थ यह नहीं कि मनुष्य मानव-जीवन की उपेक्षा करके भी उनके—पशुपक्षियों के प्रति दयालु' हो। बीमारी न सुधरने की स्थिति में हो, तब गांधीजी पशु को मारना हिंसा नहीं मानते हैं। यह तथ्य अहिंसाप्रधान जैन-धर्म को तो सर्वथा अमान्य है ही किन्तु करुणाप्रधान बौद्ध-धर्म भी इसे स्वीकार नहीं करता।

"किसी भी शरीरधारी मनुष्य के लिए हिंसासे पूरी तरह छुटकारा पाना असंभव है। इसलिए हिंसा शारीरिक जीवनकी अनिवार्य आवश्यकता है। मनुष्य के रहने, खाने, पीने और इधर-उधर घूमने-फिरने में आवश्यक रूपसे जीवों का विनाश होता है, वह जीव चाहे जितने छोटे क्यों न हों। इस जीव-हिंसा मनुष्य को अपने शरीर के भरण-पोषण के लिए ही

१ हरिजन २-६-४३ पृष्ट १७२

आश्रितों की रक्षा के लिए भी करनी पड़ती[1] है।"

"अहिंसावादी को अनिवार्य हिंसा तभी करनी चाहिए जब उससे बचनेका रास्ता न हो।[2]"

आचार्य भिक्षु जिन्होंने करीब २०० वर्ष पहले जैन-समाज में एक क्रान्ति करके तेरापंथी संप्रदाय की स्थापना की और जिनकी अभिनव आगम-व्याख्या ने समस्त विद्वत्समाज को मुग्ध करदिया, बताया कि "अहिंसक को अनिवार्य हिंसा तभी करनी चाहिए" अहिंसा की भाषामें यह नहीं कहाजासकता।

'अनिवार्य हिंसा करनी चाहिए' यह अहिंसा की मर्यादा के बाहर की बात है। "अनिवार्य हिंसा करनी चाहिए" और "अनिवार्य हिंसा हुए बिना नहीं रहती" ये दो बातें हैं। अनिवार्य हिंसा को समाज वैध माने, यह एक दूसरी बात है किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह भी क्षम्य नहीं है।

"अच्छा होता यदि उसके गले में 'चक्की का पाट डालदिया जाता और उसे गहरे समुद्रमें डुबो दिया जाता'[3]—ईसा के इस कथन में हिंसा की स्वीकृति है।

कुरान में आक्रान्ता के विरुद्ध और अन्यायी के विरुद्ध युद्ध की आज्ञा है।[4]

१ यंग इंडिया भाग २ पृष्ठ १७१
२ यंग इंडिया भाग २ पृष्ठ १८३
३ मैथ्यूज १८/६
४ कुरान २२/३९

कन्फ्यूशियस भी सामूहिक हिंसा को अवैध नहीं मानते थे।

अहिंसा का प्रयोग व्यक्तिगत जीवन में ही होता आरहा है, वह एकतन्त्रीय सिद्धान्त है। सामूहिक जीवनमें भी इसका प्रयोग बहुत बार हुआ है। वैशाली गणतन्त्र के अधिनायक महाराज चेटक युद्धभूमि में भी पहले किसीपर प्रहार नहीं करते थे। प्रहार करनेवाले पर भी एकबार से अधिक प्रहार नहीं करते थे। किन्तु यह मानना होगा कि राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा का सामूहिक प्रयोग जैसा महात्मा गांधी द्वारा हुआ, वैसा पहले नहीं हुआ। प्रयोगकाल में उसका विशुद्ध रूप रहा अथवा अन्यायके प्रतिकार का मार्ग सोलह आना अहिंसक रहा, यह कहना कठिन है। सिद्धान्ततः अहिंसाको अस्त्र मानकर यह प्रयोग चला इसलिए स्थूल दृष्टि से यह अहिंसात्मक मानाजाता है।

भगवान् महावीर और बुद्धके समय राष्ट्र स्वाधीन था। राजा भी बहुलतया निरंकुश और शोषक नहीं थे, व्यापार भी शोषण प्रधान नहीं था। इसलिए किसी राजनैतिक या आर्थिक अन्याय के प्रतिकार की लहर जनता में नहीं आई। जातीय घृणामें और पशुबलि के रूपमें जो सामाजिक तथा धार्मिक हिंसा थी, उसका उन्मूलन करनेमें श्रमण-संस्कृतिने कुछ उठा नहीं रखा। उस युगमें असहयोग, सत्याग्रह, सविनय आज्ञाभंग जैसे शब्द नहीं बने थे किन्तु अहिंसक प्रतिरोधकी पद्धति का अभाव था, यह नहीं कहा जासकता। अभय और कष्टसहिष्णुता, क्षमा और नम्रता ये अहिंस [illegible]

साहित्य में इनके प्रयोग की गाथाएँ महत्त्वभरे भावों में लिखीगई हैं।

चीन में हजारों वर्ष से 'हड़ताल' का प्रयोग होता रहा है। आज अनेक राष्ट्र अपने विरोधी राष्ट्रों का आर्थिक बहिष्कार करते हैं किन्तु यह विशुद्ध अहिंसा नहीं है। इसे हिंसा की अनुत्तेजित दशा कहाजासकता है। भारत की स्वतन्त्रता के संघर्षकाल में जो सत्याग्रह चला, वह भी पूरा-पूरा अहिंसक नहीं रहसका। गांधीवादी इस तथ्य को स्वयं स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार "इसके पहले इस पैमाने के जन-आन्दोलन में इतनी कम हिंसा कभी नहीं हुई थी।"[1]

भारत के शासकवर्ग ने भी अहिंसा को सरंक्षण दिया। महाराज चेटक, सम्राट् अशोक और राजर्षि कुमारपाल आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय जीवन में अहिंसा का इतना प्रभाव हुआ कि यहां की दण्डनीति और युद्धपद्धति भी उससे प्राभावित हुए विना नहीं रहसकी।

विधायक अहिंसा

अभाव जितना सरल होता है, भाव उतना ही जटिल। नकार की भाषा में जो एकता दीखती है, वह हकार की भाषा में नहीं दीखती। भावात्मक अहिंसा इस नियम का अपवाद नहीं है। आजतक के अहिंसा के इतिहास में विधायक अहिंसा के

---

१ सर्वोदय तत्त्व-दर्शन पृष्ठ २२१

जो रूप मिलते हैं उनमें से कुछएक ये हैं—मैत्री, करुणा, प्रेम, सेवा और दया।

अपना और पराया आत्मविकास करना, दुःख के मूल का उच्छेद करना, संयममय क्रियायें करना अहिंसा की सक्रियता है। इसीका फलित अर्थ होता है मैत्री। मैत्रीसे मोह नहीं होना चाहिए।

आत्मा की राग-द्वेष-रहित परिणति और उससे संवलित जो कार्य होता है वही सही अर्थ में मैत्री है, यह विचार जैन-परम्परा का है।

बौद्ध-परम्परा इस विषयमें करुणाप्रधान है। उसका आग्रह दुःखी को वर्तमान में सुविधा पहुंचाने का अधिक है।

भगवान् महावीर की वाणी में जहां "दुःख का मूल ढूंढो और उसका उच्छेद[२] करो" का संदेश है, वहां महात्मा बुद्ध की वाणी में केवल दुःख को मिटाने का संकेत मिलता है।

कन्फ्यूशियस के शब्दों में अहिंसा का भावात्मक रूप है विश्वप्रेम। सभी व्यक्तियोंसे प्रेम करना ही 'जेन' (अहिंसा) है। अपनी अहंता को नष्ट करोना और औचित्य का पालन करना ही 'जेन' है। दूसरों के प्रति वह व्यवहार कभी मत करो जो अपने प्रति तुम नहीं चाहते। गम्भीरता, उदारता, निष्कपटता, सत्परता और करुणा इन पांचों का पालन करना ही 'जेन' है।

महर्षि पतंजलि ने भी उसे सब जीवों के प्रति सद्भाव और वैर-त्याग के रूप में स्वीकार किया है।

---

२ आचारांग १/३/७/५

वेदों में भी विश्वप्रेम की स्पष्ट गाथाएँ हैं। महात्मा ईसा ने सेवा को परम धर्म माना है। दया को न्यूनाधिकरूपमें सबने स्वीकार किया है।

परमार्थ की भूमिकामें मैत्री, करुणा, दया और सेवा ये भिन्न नहीं हैं। महात्मा ईसा कहते हैं—"जो तुमसे घृणा करे उसके साथ भलाई करो।[1]

महात्मा बुद्ध कहते हैं—"हमें समस्त जगत् के सभी जीवों के प्रति ऊपर और नीचे, दूर और नजदीक, घृणा और द्वेष से रहित होकर प्रेमका व्यवहार करना चाहिए।[2]"

कुरान की भाषा में "जो कोई अन्य प्राणियोंके साथ दयाका व्यवहार करता है, अल्लाह उस पर दया करता[3] है।"

वैदिक ऋषि कहते हैं—"हम सब जीवों को मित्र की दृष्टि से देखें।[4]"

भगवान् महावीर कहते हैं—"हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, जिस पर हुकूमत करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही सुख दुःख का अनुभव करनेवाला प्राणी[5] है।"

१—मैथ्यूज ५/४४

२—सुत्त निपात मंत्त सुत्त ४, ५/८

३—कुरान ६/३८

४—यजुर्वेद वा० सं० ३६/१८

५—आचारांग १/५/५

इनके तात्पर्य में कोई भेद नहीं [illegible] आध्यात्मिक हैं। किन्तु जहां व्यावहारिक [illegible] है, वहाँ मतैक्य नहीं है। जैन-अहिंसा [illegible] त्मक मानाजाता है। इसका कारण यही है कि [illegible] करुणा यानी रागद्वेषात्मक सेवाको [illegible] स्थान नहीं है। अन्य दर्शनोंमें शारीरिक [illegible] में गिना है इसलिए उनमें सेवाको [illegible] उनमें भी जहाँ परमार्थ चिन्तन है, [illegible] लोकोत्तर भेद मिलते हैं। किन्तु [illegible]

आचार्य भिक्षु ने बताया कि [illegible] सेवा आसकती है, जो आत्ममाधना [illegible]

शारीरिक सेवा और आध्यात्मिक [illegible] रेखा न हो तो फिर मोह और [illegible] आत्मिक शान्ति में कोई अन्तर नहीं [illegible]

हिंसा और अहिंसा के बीच [illegible] रेखा है। परमार्थ-दृष्टि से अहिंसा [illegible] और दुःख का प्रश्न नहीं होता, [illegible] दुःख कुछभी हो, जहाँ आत्ममुक्ति [illegible] यानी आत्मशोधक अहिंसा [illegible] अहिंसा—स्थूल हिंसा का अभाव [illegible] सामाजिक जीवनकी स्थितिका [illegible] स्थितप्रज्ञ-दशा को एक तुलामें नहीं [illegible]

समर्थ व्यक्ति आक्रान्ता नहीं बने और विजेता युद्धसे पराङ्मुख हुए, यह अहिंसा का ही परिणाम है। विश्वशान्ति और व्यक्ति की शान्ति दो वस्तुएँ नहीं हैं। अशान्ति का मूल कारण अनियन्त्रित लालसा, लालसा से संग्रह, संग्रह के लिए होनेवाला शोषण है। व्यक्ति या विश्व जो शान्ति चाहता है, उसे उक्त कारण से बचाना होगा अन्यथा अशान्ति का स्रोत सूख नहीं सकता।

पूर्ण अहिंसा—जो अहिंसा का महाव्रत है, सबके लिए संभव नहीं। एक वर्गविशेष—'मुनि' के लिए वह होसकती है। अहिंसाव्रत, जो विश्व-अशान्ति को दबाये रखने में समर्थ है, प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकता है। उसका अर्थ है—वैसे अहिंसक समाज का निर्माण, जिसमें जीवन का प्रवाह रुके बिना आक्रमण और शोषण न रहे, संकल्पपूर्वक होनेवाली हिंसा मिटजाय।

मार्च, १९५२
सरदारशहर (राजस्थान)

युवक-उद्बोधन

मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि नौजवानों में जोश है, हिम्मत है उत्साह है और उनमें क्रान्ति के स्फुलिंग हैं। परन्तु मैं कहूंगा—जहां उनमें ये विशेषताएँ हैं, वहां आज उनमें कमियां भी कम नहीं हैं। सबमें नहीं तो अनेक में चरित्र-बल की कमी है। उनमें सहिष्णुता नहीं है। वे काम नहीं चाहते। उनकी कथनी और करनी में एकरूपता नहीं है। मैं नौजवानों को जोर देकर कहूंगा कि यदि वे अपने को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो वे सबसे पहले अपने आपको सुधारें। चरित्रवान् बनें। जीवनमें नैतिकता और सदाचार को प्रश्रय दें। सहनशील बनें। उनमें नाम, पद, प्रतिष्ठा की भावना न होकर काम की भावना हो। वे केवल कहें ही नहीं, करें भी। ऐसा करनेसे ही वे वैयक्तिक, सामाजिक व राष्ट्रीय उन्नति में सहयोगी बन सकते हैं।

नौजवानों ! जानते हो—तुम्हारे पर कितना बड़ा उत्तरदायित्व है। क्या तुम इसे भूल जाओगे ? मैं पुनः तुम्हें आह्वान करताहूं और कहता हूं—जागो, उठो, कहीं ऐसा न हो कि जीवन की ये स्वर्णिम घड़ियां वृथा चलीजाएं।

[ता० ४-५-५२ को लाडनू (राजस्थान)में
आयोजित युवक-सम्मेलन के अवसर पर]

कसौटी

जीवन क्षण-क्षण विकासोन्मुख हो, वह सच्ची प्रगति तथा उत्थान की ओर द्रुतगति से आगे बढ़े, इसीमें मानव-जीवन की सफलता है। जिनके दिलमें कुछ करने की तड़फ है, वे नएपन या पुरानेपन के बंधनकी परवाह नहीं करते और न नवीनता या प्राचीनता किसी वस्तु की कसौटी ही है, उसकी कसौटी तो उसकी उपयोगिता, अच्छाई और श्रेष्ठता है। चूंकि एक वस्तु पुरानी है, इसलिए ग्राह्य है और नई है इसलिए त्याज्य है अथवा नई है इसलिए ग्राह्य है और पुरानी है इसलिए त्याज्य है, ऐसा सोचना जड़ता है, दिमाग की गुलामी है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह नवीनता या प्राचीनता के फेर में न पड़ वास्तविकता की खोज करे, इसीमें उसका भला है।

मनुष्य केवल आलोचक न बनकर कर्मठ बने।

से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वह तो समय और शक्ति का अपव्यय है। मैं चाहता हूं—लोग सत्क्रियाशील बनें। उनका जीवन त्यागपूर्ण व आदर्श हो। इसीमें उनके मानवपन की सार्थकता है।

[ता• ६-६-५२ को बीदासर (राजस्थान) में आयोजित नागरिक-सम्मेलन के अवसर पर]

वे भी मुझे अन्न और पानी के स्थान पर हीरे-पन्ने तो खाते नजर नहीं आते। मुझे आश्चर्य होता है कि वे धन के पीछे शोषण और अत्याचारोंसे अपने को पापके गड्ढेमें गिरारहे हैं।

आज साम्यवाद का नाम जन-जन की जिह्वापर है। कान्स्टीट्यूशन हव नई दिल्ली में लोगों ने मुझसे पूछा—क्या भारत में साम्यवाद आयेगा? मैंने उत्तर दिया—आप बुलालेंगे तो आयेगा, नहीं तो नहीं। मेरा अभिप्राय यह है कि यदि भारतीय लोग साम्यवाद से जो जड़वाद पर आश्रित है, घृणा करते हैं तो उन्हें अपरिग्रहवादी बनना होगा। शोषण, अत्याचार और अतिलोभ को छोड़ना होगा।

जैसाकि मैंने पहले बताया—आज स्वार्थ-भावना का सर्वत्र बोलवाला है। और तो और लोग धर्म में भी इस वृत्ति को नहीं छोड़ते। किसी को रूखी-सूखी रोटी का टुकड़ा देदिया, समझने लगे—उन्होंने बहुत बड़ा दान करदिया, बहुत बड़ा पुण्य कमालिया। वे नहीं सोचते कि एक सामाजिक भाई के नाते वह तो दान का नहीं, भाग का अधिकारी है।

अंतमें मेरा यही कहना है कि जनता अपरिग्रहवाद को अपने जीवन में अधिकाधिक प्रश्रय दें। यही उसकी सब समस्याओं का सही हल होगा।

[ता० २३-६-५२ को चूरू (राजस्थान) के नागरिकों की ओर से आयोजित स्वागत-समारोह के अवसर पर]

शान्ति और क्रान्ति का भ्रम

आजका संसार धुंधले वातावरणमें से गुजर रहा है। शान्ति और क्रान्ति की भ्रान्ति छारही है। वह क्या चाहता है—इसका अनुमान करना कठिन है। शान्ति के लिए सबकुछ होरहा है, ऐसा सुनाजाता है। युद्ध भी शान्ति के लिए, स्पर्धा भी शान्ति के लिए, शस्त्र-शस्त्रों का निर्माण भी शान्ति के लिए, अशान्ति के जितने बीज हैं वे सब शान्तिके लिए—यह मानसिक झुकाव की कितनी भयंकर भूल है? बातें चलें विश्वशान्ति की और कार्य चलें अशान्ति के, शान्ति हो कैसे?

सही अर्थ में शान्ति की चाह नहीं है, ऐसा लगता है। मुझे साफ शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि आज सबसे बड़ी चाह सत्ता हथियाने की और प्रभुत्व जमाने की है। आज की लड़ाई सत्ता की लड़ाई है। इसके नीचे मानवता और मानव का सर्वनाश होरहा है। मानव जन्म लेता है, मरता है—यह नैसर्गिक बात

है। आज के सभी देश मानव की सुरक्षा के लिए अधिक चिन्तित दीख रहे हैं। पर वस्तुवृत्या ऐसा है क्या? मानवता की सुरक्षा के बिना मानव की सुरक्षा का क्या मूल्य है? मानव को यंत्र बनाकर चलाने में उसका क्या कोई महत्त्व है? यह सब मानवीय शक्ति का उपहास है।

मानव स्वयं अपनी वृत्तियों का नियन्ता होना चाहिए, वहां वह यन्त्रवत् नियन्त्रित है, यह शान्ति का मार्ग नहीं है और नहीं है। आर्थिक विकास की चर्चा है। रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठे—यह लगन है। सब सुख-समृद्धि से जीयें—ऐसा प्रदर्शन है। पर यही सबकुछ है क्या? इसपर विचार होना अब भी बाकी है। ये जीवन की आवश्यकताएँ हो सकती हैं किन्तु सिद्धान्त नहीं, आदर्श नहीं और चरम साध्य नहीं; चरम साध्य है मानवता। उद्देश्यपूर्ति के लिए चलते-चलते आवश्यकताएँ पूरी करना एक बात है और उनके पीछे पड़जाना दूसरी बात। पहला शान्ति का मार्ग है और दूसरा लड़ाई का।

इसमें कोई सन्देह नहीं—आजका संसार विज्ञानके क्षेत्रमें बहुत आगे बढ़ा है, किन्तु शान्ति का मार्ग चुननेमें बहुत पिछड़ा है—यहभी निःसन्देह है। शान्तिका सम्बन्ध बाहरी साज-सज्जा से नहीं, वह अन्तरंग वृत्तियों के नियमन से है। गरीबी और गरीबों का शोषण—दोनोंका समर्थन नहीं, अमीरी और अमीरों का पोषण—इनका भी समर्थन नहीं, हमें आज तीसरे दृष्टिकोण से सोचना है। वह है आत्मीय दृष्टिकोण, इससे आज की कूट-

नीति और अर्थनीति का मेल नहीं होगा किन्तु शान्ति का स्रोत चल पड़ेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं। मानव मानव बना रहे, उसमें उसका कोई पतन नहीं। हमें प्रगति का दिग्सूचक यंत्र बदलना होगा। हमें इस दिशा में भौतिक जगत् को संकेत बताने का अधिकार है।

जामसाहब यूनेस्को से विशेष सम्बन्धित हैं। इसलिए मैं चाहूंगा कि वे भारत का शान्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण संसार को समझायें। अहिंसा और चारित्र्य के वास्तविक मूल्योंसे अवगत करायें। विश्व-शान्तिके लिए यह एक बहुत बड़ा कदम होगा। हिंसा पर अहिंसा की विजय होगी। हमने अहिंसा का मार्ग चुना है, यही एकमात्र शान्ति का आश्वासन है। इसे और भी समझें—इस दिशा में हमारा बलवान् प्रयत्न होना चाहिए। नैतिक पुनरुत्थान के लिए अणुव्रती संघ के रूप में जो आन्दोलन चलरहा है—उसे मनोयोग से देखेंगे ऐसा विश्वास है।

[ता० २६-१० ५२ को जामनगर में मुनिश्री कानमलजी के तत्त्वावधान में आयोजित सांस्कृतिक सम्मेलन में सौराष्ट्रके राजप्रमुख श्री जामसाहब की उपस्थिति में पठित।]

सफल युवक

मुझे युवक-शक्ति में पूर्ण विश्वास है। मेरी भाषा में युवक वही है, जिसमें सत्-उत्साह मिले। युवक में उत्साह होना सहज बात है। उसका उपयोग ठीक होना चाहिए। शक्तिका दुरुपयोग अभिशाप बनता है और उसका सदुपयोग वरदान। मेरी मनोभावना एक ही है कि युवक अपनी शक्ति आत्म-अन्वेषण में लगायें। सत्य को समझें और दूसरों को भी समझाने का प्रयत्न करें। इस प्रयत्न में लगे युवक को मैं सफल युवक मानता हूं।

ता० २-११-५२
सरदारशहर (राजस्थान)

युग चुनौती देरहा है

आजका युग विकास का युग है, विज्ञान का युग है, साम्य का युग है आदि-आदि धारणाओं का स्रोत बहरहा है। मेरी सम्मति में सिंहावलोकन का युग है। मुड़ो और निहारो, आज अहिंसा की इतनी पुकार क्यों है इसपर दृष्टि डालो।

दुनियाँ ज्यों-ज्यों बहुत पारही है त्यों-त्यों कमी महसूस हो रही है। अहिंसा जीवनमें थी वह शब्दमें आगई, हिंसा कल्पना में थी, जो आज सहस्रशीर्षा है। हिंसा और अहिंसा के द्वन्द्व में आज अहिंसा का पलड़ा भारी नहीं है। हिंसा बुरी है, नितान्त बुरी है फिरभी दुनियाँ उससे चिपटी हुई है। विलास चाहिए, भोग चाहिए, सुख-सुविधा के साधन चाहिएं, दूसरों पर अधिकार और प्रभुत्व चाहिए, इसपर भी हिंसा बढ़े नहीं यह कैसे ? चाहिए यह भी एक बात है किन्तु सबसे अधिक चाहिए, यह हिंसा-अग्नि में घी की आहुति है। अहिंसा अच्छी है और बहुत अच्छी है, अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए और छोटों के लिए। आत्म-संयम होता नहीं, त्याग, तपस्या का मार्ग कठोर है,

अहिंसा का आदर होभी तो कैसे हो ? किन्तु याद रखिये मानव बनकर मानवताके साथ खिलवाड़ करना कल्याणका मार्ग नहीं है।

भोग-लिप्सा से आत्मा गिरती है। उसके गिरने पर न समाज उठता है, न देश और न राष्ट्र। लोग समाज और राष्ट्र के अभ्युदय की चिन्ता में झूमरहे हैं। व्यक्ति का क्या होरहा है, पता नहीं। ऊँचे व्यक्तियों के बिना ऊँची दीवारें सिर ऊँचा बनाये नहीं खड़ी रहसकतीं। व्यक्ति का हृदय ऊँचा न हो तब क्या समाज करे और क्या राज्य ? विधि-विधान, मात्र प्रेरणा या पथ की ओर इंगित है। पथद्रष्टा की आंखें खुली हों तब न ! नहीं तो पथ कौन देखे ?

फिर एकबार प्रयत्न करिये। यह अवसर है। युग चुनौती देरहा है। समाजकी लड़खड़ाती कड़ियाँ और राष्ट्रकी डगमगाती कंकालें सावधान कररही हैं। जागतिक समस्यायें स्फुलिंग बरसा रही हैं। इसलिए यह अवसर है। समष्टि शृङ्खला से बंधे व्यक्ति को जगाइये। व्यक्ति के जागने पर समाज नहीं सोता। समाज की सत्ता जड़ है, व्यक्तिमें चैतन्य होता है। व्यक्ति स्वस्थ, समाज स्वस्थ; व्यक्ति स्वस्थ नहीं, समाज स्वस्थ नहीं।

व्यक्ति व्यक्तित्व से बाहर होचला है। वह आपे में आये ऐसे एक नहीं अनेक प्रयत्नोंकी आवश्यकता है। अणुव्रत आन्दोलन उन्हीं में से एक है। यह आध्यात्मिक है और आत्म-संयम को केन्द्र-बिन्दु मानकर चलता है। बाहरी स्थितियों का सुधार इसकी गति में कुछ स्फूर्ति लासकता है किन्तु यह बाहरी स्थितियों

को मुख्य मानकर नहीं चलता। इसका ध्येय है आन्तरिक स्थितियों का सुधार। उनके सुधरने पर बाहरी स्थितियां अपने-आप सुधरेंगी। किन्तु यह मार्ग सही है—यह समझना आज कठिन होरहा है। यंत्र-युग की धुंधली रेखाएं मनुष्य को यंत्र बनाकर सुख की सांस भरेगी, ऐसा लगरहा है। देखें क्या हो?

धुंधले में भी एक आशा की किरण चमकती है। मनुष्य अहिंसा की रट को अभी नहीं भूला है। सम्भव है शब्द गले में उतरजाय, जीवन बदल जायं। मनुष्य अहिंसा के प्रति निष्ठावान् बने, बनने की प्रेरणा पाये, इसीलिए अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यक्रम में अहिंसा-दिवस की आयोजना रखीगई है।

अणुव्रती संघ जंगल के व्रतियों का संघ नहीं है। यह घर, बाजार, कचहरी और न्यायालय के व्रतियों का संघ है। घर और बाजार में, कचहरी और न्यायालय में अहिंसा आये इसलिए अहिंसा दिवस की आयोजना है। अहिंसा का अभ्यास करते-करते मनुष्य अहिंसक बने, इस उद्देश्य से अहिंसा दिवस की आयोजना है, इसलिए इसका जीवनव्यापी महत्त्व है। समाज या राष्ट्र इसे मनाये या न मनाये किन्तु वे इसे अवश्य मनायें जिनमें जीवन है। त्याग और तपस्या के द्वारा मनायें शोषण, उत्पीड़न और अत्याचार की होली करके मनाएं-यह इसको मनाने का तरीका है। मेरी पुकार आत्मा की पुकार है। यह अवश्य सुनी जाएगी, मुझे दृढ़ विश्वास है।

[ता० ६-१२-५३ को श्री डूंगरगढ़ (राजस्थान) में अहिंसा-दिवस के अवसर पर]

दर्शन की पवित्रता के दो कवच

अहिंसा और मोक्ष

दर्शन आत्मा की अनुभूति का समवाय है। वह श्रद्धा को तर्क के आवरण में ढक कर चलने में कुशल पथिक है। वह चलता है, अनेक रूप और अनेक वेष लिए चलता है। काल, दिग् और देश की अनेकता में एकता लिए चलता है। पूर्व और पर की अनुस्यूति ही परम रहस्य है। पूर्व और अपर में कोई झगड़ा नहीं। उनमें पूरा सामञ्जस्य है। झगड़ा है व्यक्ति के दिमाग में। वह या तो पूर्व को मिटाकर उत्तर पाना चाहता है, या पूर्व को ही चिर मानकर उत्तर की सोचता तक नहीं। दार्शनिक का कर्त्तव्य है—पूर्व और पर का समन्वय किए चलना। दर्शन-परिषद् में दर्शन की विविध समस्यायें सुलझनी चाहिएँ। इसलिए मैं कुछ बातें रखना चाहूंगा।

दर्शन की रूप-सत्ता एक होने पर भी सत्य के विविध रूपों पर विविध दृष्टियों द्वारा स्पष्टीकरण करने के कारण वह अनेक-रूप है। 'है' इसमें कोई सन्देह नहीं फिरभी अनेकता को ही मुख्य मानकर गति होरही है—यह उचित नहीं। दृष्टि के गौण-मुख्य भाव को समझने का प्रयत्न होना उचित है।

तुलनात्मक अध्ययन की परिपाटी विकसित होरही है किन्तु फिरभी मानसिक झुकाव के कारण उसमें कोई मूर्त्त परिणाम नहीं आता। यह दर्शनों को आपस में विरोधी समझने का परिणाम है।

विचार-वैविध्य दोष नहीं। दोष है उसकी भित्ति-पर विरोध-प्रचार। यह बात दर्शन के चरम और पवित्र लक्ष्य की साधक नहीं, बाधक है। इस पर दार्शनिक जगत् को अबभी बहुत विचार करना है।

दार्शनिक साहित्य पर भी विचार होना चाहिए। प्रत्येक दर्शन के अधिकारी अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकाश में लायें, यह मर्यादा से परे नहीं। दूसरों का दृष्टिकोण समझे बिना या आग्रह के कारण उसे विकृत बनाकर प्रकाश में लायें, यह औचित्य की परिधि से परे है। लगभग इस अर्ध शताब्दी में अनेक दर्शनों को छूनेवाली जो पुस्तकें लिखी गई हैं वे प्रायः त्रुटि-पूर्ण हैं। एक व्यक्ति का पूरा अधिकार एक या दो दर्शन पर होसकता है। सब दर्शन पूरे न तो हृदयङ्गम होसकते हैं और न उनका हार्द व्यक्त किया जासकता है। इसलिए एक व्यक्ति

अनेक दर्शनों पर लिखें यह अधिकार पूर्ण कार्य नहीं कहा जा सकता। इसमें केवल शब्द पकड़े जाते हैं, आत्मा नहीं पकड़ी जाती। अपने-अपने दर्शन के अधिकारी व्यक्तियों के लिखे लेखों की संकलना से एक ग्रन्थ बने, वही वास्तव में यथार्थ संकलन होसकता है।

दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् के सभापतित्व में होनेवाला यह समारोह उदार-भावना को सुतरां आगे बढ़ानेवाला होना चाहिए। दर्शन की उच्च परम्परा भारतीय चेतना की उदात्त साधना का फल है। आनेवाली पीढ़ी इसमें उतना रस नहीं लेरही है जितना लेना चाहिए। यह चिन्तनीय है। पुराने दार्शनिक वर्तमान की समस्याओंको दर्शन का विषय बनाना पसन्द नहीं करते—यह भी विचारणीय है।

दार्शनिक नये दार्शनिकों को पैदा कर सकते हैं। इसलिए दार्शनिकों को अपनी वृत्तियाँ ऐसी बनानी चाहिएँ जिससे नये दार्शनिक पैदा हों। दर्शन अतीत तक सीमित नहीं है। भविष्य भी उसके गर्भसे बाहर नहीं जा सकता। इसके द्वार कभी बन्द नहीं किये जा सकते।

भारतीय दर्शन ने अनेक गम्भीर विचार दिये, इसलिए उसका महत्त्व है। गम्भीर विचार देने की क्षमता पैदा की, यह उससे भी आगे की बात है। भारतीय-चिन्तनधारा पूर्ण स्वतंत्र रही, इसलिए चिन्तन का सर्वतोमुखी विकास हुआ। अल्पल्प संख्यक नास्तिकों को कुचलना दूर की बात, उनके विचार भी

कुचले नहीं गये। सत्तारूढ़ दर्शन ने अन्य दर्शनों को धूलिसात् करने का प्रयत्न नहीं किया। कारण यह कि यहां के दर्शन धर्म को छोड़कर नहीं चले। मोक्षका लक्ष्य और अहिंसाकी साधना, ये दो इसकी पवित्रता के कवच रहे हैं। यह एक विशेष वस्तु-स्थिति है। मैं आशावान हूं—यह पवित्र परम्परा और आगे बढ़ेगी।

[दिसम्बर, १९५२ में मैसूर में आयोजित फिलोसोफीकल कांग्रेस के अवसर पर]

सांस्कृतिक विकास क्यों ?

आचार और विचार की रेखाएँ बनती हैं और मिटती हैं। बनता है वह निश्चित मिटता है किन्तु मिटकर भी जो अमिट रहता है—अपना संस्थान छोड़जाता है, वह है संस्कृति। अनेक समाज, अनेक धर्म और अनेक मत अनेक संस्कृतियाँ मानते हैं; पर वास्तव में वे अनेक नहीं हैं, सिर्फ दो हैं—भलाई की या बुराई की, सुख की या दुःख की। आदमी भला होता है या बुरा, सुखी होता है या दुःखी ! संस्कार भी इसी रूपमें ढलते हैं। संस्कृति पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिलती है। शताब्दियोंकी परम्परा के संस्कार मनुष्यके विवेक को बुझाते और जगाते हैं। जगाने की बात सही होती है और बुझाने की गलत। फिरभी कमवेशी मात्रा में दोनों चलते हैं। बुझाने की मात्रा घटजाय या टूट जाय और जगानेकी मात्रा बढ़जाय इसलिए सांस्कृतिक समारोहों का महत्त्व होता है।

संस्कृति ऊँची चाहिए—यह अभिलाषा सबको है। सब चाहते हैं—हमारा आचार-विचार सब सीखें। किन्तु यह तब हो सकता है जब मनुष्य सबमें मिलजाय। आत्मासे आत्मा में घुलजाय। बाहरी बन्धन—भोग और भोग के साधन आत्मा-आत्मा को अलग-अलग किये हुए हैं। भोग की वृत्तिसे स्वार्थ बढ़ता है, स्वार्थ से भेद और भेद से विरोध। जैन-धर्म बताता है—सब आत्मा समान हैं, उनमें कोई विरोध नहीं है। मूल में विरोध नहीं है तब संस्कृति में वह कैसे हो सकता है ? वास्तव में नहीं होता, यह कोरी कल्पना है। उसे मिटाने के लिए त्याग का मन्त्र पढ़ाया गया। यह एकमात्र परमार्थ का रास्ता है। लेने में "मैं अधिक लूं" की भावना होती है और वह मनुष्य को गिराती है। छोड़ने में "मैं अधिक छोड़ूं" की भावना आये यह जरूरी है। यह कठिनाई से आती है। फिरभी समस्या का एकमात्र हल यही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

भारतीय संस्कृति में त्याग—आत्म-विजय, आत्मानुशासन और प्रेम की अविरल धाराएँ बही हैं। भोग से सुख नहीं मिला तब त्याग आया, दूसरे जीते नहीं गये तब अपनी विजय की ओर ध्यान खींचा। हुकूमत बुराइयाँ नहीं मिटा सकी तब 'अपने पर अपनी हुकूमत' का पाठ पढ़ाया गया। आग से आग नहीं बुझी तब प्रेम से आग बुझाने की बात सूझी। ये वे सूझें हैं जिनमें चैतन्य है, जीवन है, दो को एकमें मिलाने की क्षमता है।

आचारको विचारसे पहला अथवा आचारके लिए विचार—

यह माननेवाला भारतीय दृष्टिकोण मिटता जारहा है। केवल विचार के लिए विचार बढ़रहा है। यह अनिष्ट प्रसंग है। आचार नहीं तो विचार से क्या बने ? इसलिए थोथे विचारों के भंवर में न फंसकर आचारमूलक विचार करने की भावना जागे, संयम और स्वशासन की वृत्ति बढ़े, यही सही अर्थ में संस्कृति के चिन्तन का सुफल है।

[ता० १९-१२-५३ को गांधी विद्या मन्दिर, सरदारशहर में आयोजित संस्कृति-सम्मेलन के अवसर पर]

भगवान् महावीर का प्रेरणा-स्रोत

भगवान् महावीर एक क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उनका जीवन साधना व जन-जागरणका जीवन था। उन्होंने अशांति की भीषण अग्निसे झुलसी मानवता को शान्ति और राहत का संदेश दिया।

उन्होंने बताया—मनस्वी वे हैं जो अनुस्रोत में—जगत् के चालू प्रवाह में न बहकर प्रतिस्रोत में बहें। आज स्थिति यह है- लोग संसार के चालू प्रवाह में बेतहाशा बहे जारहे हैं। उनका इस ओर जरा भी ध्यान नहीं कि वह प्रवाह उन्हें कहां लेजाकर छोड़ेगा। सोचने और समझनेवाले व्यक्ति का यह कर्त्तव्य नहीं कि वह इस प्रकार अंधाधुंध चलता रहे। उसे तो चाहिए कि वह अपनी बुद्धि से सचाई को परखे और परखकर उसे अपनाए, फिर चाहे वह लोगों के चालू प्रवाह के विपरीत ही क्यों न हो।

यह समय था जबकि लोग धर्म के नामपर हिंसा और पूँजीवाद को प्रश्रय देरहे थे। यज्ञों के नामपर मूक पशुओं की निर्दय हत्या होती थी। भगवान् महावीर ने इस अनुस्रोतमें बहनेवाले लोगों के जीवन को झकझोरा। अपने अहिंसक आन्दोलन के जरिये उनके रुख को बदला।

भगवान् महावीर एक समन्वयवादी महापुरुष थे। उनके द्वारा प्रसारित अनेकान्तवाद का सिद्धान्त समन्वयवाद का पूर्ण परिपोषक है। उन्होंने बताया—धर्म-पथपर लोग आगे बढ़ते रहें, इसके लिए यह अति आवश्यक है कि उनमें विशालता और उदारता आये। दृष्टि की संकीर्णता एक दूसरे को मिलाती नहीं, अलग करती है। अतः लोग कैंची नहीं सुई बने, जो काटने के बदले जोड़ने का कार्य करती है।

प्रायः सब धर्मों के सिद्धान्तों में समानता के तत्त्व अधिक हैं, असमानता के कम। आज के युग की यह मांग है कि समानता के तत्त्वों के माध्यम से लोग समन्वय की ओर बढ़ें। तभी धर्म लोक-जीवन के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा।

[ता० २८-३-५३ को महावीर जैन मण्डल, बीकानेर की ओर से आयोजित महावीर-जयन्ती के अवसर पर]

शान्ति में ही जीवन की सरसता है। इसमें कोई विवाद नहीं। जिससे शान्ति की मात्रा अधिक बढ़े, वही कल्याणकर है। संस्कृत-भाषाको उन भावोंको वहन करनेका सौभाग्य मिला, जो भाव आत्मलीन सन्तोंके हृदयमें पले और जिनमें शान्ति निखर रही है। वे आज भी जीवन की गांठ खोल सकते हैं।

शान्ति क्या है, सुख क्या है, आत्मा क्या है—इन तत्त्वोंकी संस्कृत-वाणी में प्रचुर चर्चा मिलती है।

आज वैज्ञानिक साधन तीव्र गतिसे बढ़रहे हैं फिरभी शांति-की पुकार आज जितनी तीव्र है, उतनी पहले नहीं थी। ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है। जो साहित्य भूलादिया गया, जो भाषा भूलादीगई, उनके पुनर्जीवनकी आज अपेक्षा है। उसके संकेत भी मिलरहे हैं। यदि ऐसा होगा तो शान्ति दूर नहीं रहेगी।

भाषा की दृष्टि से भी संस्कृत का महत्त्व कम नहीं है। ऐसा सुसंस्कारी भाव अन्यत्र नहीं मिलता। स्वच्छ मनवाला कवि भी यहां उच्छृङ्खल होकर विचरता है। शब्द और अर्थके श्लेष का भी इसमें बहुत बड़ा अवकाश है। साहित्य-सौरभ भी हृदयको सरसाने-वाली है। सबका सार स्व-स्थिति है। वही शान्ति का बीज है। इसी एक गुणपर जीवन-सर्वस्व अर्पित किया जा सकता है। संस्कृत-पंडितों को भी भूल सुधार करना होगा। वे वर्तमान की सर्वथा उपेक्षा कर चलें—यह उचित नहीं। समन्वय-पथपर वे चलें तो उनके चरण-चिह्न अपनेआप अनुकरणीय होंगे।

[ता० २९-३-५३ को राजस्थान प्रान्तीय संस्कृत साहित्य-सम्मेलन की ओर से आयोजित संस्कृत-साहित्य-परिषद् के अवसर पर]

नारी-जागरण

पुरुष और नारी मानव जाति के दो अंग हैं। दोनों का अपने-अपने स्थान पर कम महत्त्व नहीं है। दोनों का कार्य-विभाजन प्राचीनकाल से चला आरहा है। महिला घर-गृहस्थी का काम देखे, पुरुष बाहर का काम सम्हाले। ऐसा कोई कारण नहीं कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को हीन समझाजाए। मुझे बहुत खेद होताहै जबकि मैं पुरुषों को यह कहते सुनता हूं कि नारी पुरुष की दासी है, पुरुषों की तो यह दंभ और अहंपूर्ण प्रवृत्ति है ही, ऐसा होने में महिलाएं भी कुछ न कुछ कारण बनती हैं। उनमें अपनेआपको हीन समझने की अधम मनोवृत्ति घर करगई है। मैं उन्हें जोर देकर कहूंगा कि वे अपने विवेक को पुनः जागृत करें।

जीवन में विवेक अथवा ज्ञान का कम महत्त्व नहीं है। विवेक जीवन का सच्चा नेत्र है। उसके बिना प्रगति अन्धी है। कर्मठता, मृदुता, कष्टसहिष्णुता आदि नारी के सहज गुण हैं पर इनकी जो उपयोगिता होनी चाहिए, विवेक के बिना वह हो नहीं पाती। नारी-समाज को आज चिर निद्रा छोड़, अपना विवेक जगाना है।

शान्ति में ही जीवन की सरसता है। इसमें कोई विवाद नहीं। जिससे शान्ति की मात्रा अधिक बढ़े, वही कल्याणकर है। संस्कृत-भाषाको उन भावोंको वहन करनेका सौभाग्य मिला, जो भाव आत्मलीन सन्तोंके हृदयमें पले और जिनमें शान्ति निखर रही है। वे आज भी जीवन की गांठ खोल सकते हैं।

शान्ति क्या है, सुख क्या है, आत्मा क्या है—इन तत्वोंकी संस्कृत-वाणी में प्रचुर चर्चा मिलती है।

आज वैज्ञानिक साधन तीव्र गतिसे बढ़रहे हैं फिरभी शांति की पुकार आज जितनी तीव्र है, उतनी पहले नहीं थी। ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है। जो साहित्य भूलादिया गया, जो भाषा भूलादीगई, उनके पुनर्जीवनकी आज अपेक्षा है। उसके संकेत भी मिलरहे हैं। यदि ऐसा होगा तो शान्ति दूर नहीं रहेगी।

भाषा की दृष्टि से भी संस्कृत का महत्त्व कम नहीं है। ऐसा सुसंस्कारी भाव अन्यत्र नहीं मिलता। स्वच्छ मनवाला कवि भी यहां उच्छृङ्खल होकर विचरता है। शब्द और अर्थके श्लेष का भी इसमें बहुत बड़ा अवकाश है। साहित्य-सौरभ भी हृदयको सरसानेवाली है। सबका सार स्व-स्थिति है। यही शान्ति का बीज है। इसी एक गुणपर जीवन-सर्वस्व अर्पित किया जा सकता है। संस्कृत-पंडितों को भी भूल सुधार करना होगा। वे वर्तमान की सर्वथा उपेक्षा कर चलें—यह उचित नहीं। समन्वय-पथपर वे चलें तो उनके चरण-चिह्न अपनेआप अनुकरणीय होंगे।

[ता० २९-३-५३ को राजस्थान प्रान्तीय संस्कृत साहित्य-सम्मेलन की ओर से आयोजित संस्कृत-साहित्य-परिषद् के अवसर पर]

नारी-जागरण

पुरुष और नारी मानव जाति के दो अंग हैं। दोनों का अपने-अपने स्थान पर कम महत्त्व नहीं है। दोनों का कार्य-विभाजन प्राचीनकाल से चला आरहा है। महिला घर-गृहस्थी का काम देखे, पुरुष बाहर का काम सम्हाले। ऐसा कोई कारण नहीं कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को हीन समझाजाए। मुझे बहुत खेद होताहै जबकि मैं पुरुषों को यह कहते सुनता हूं कि नारी पुरुष की दासी है, पुरुषों की तो यह दंभ और अहंपूर्ण प्रवृत्ति है ही, ऐसा होने में महिलाएं भी कुछ न कुछ कारण बनती हैं। उनमें अपनेआपको हीन समझने की अधम मनोवृत्ति घर करगई है। मैं उन्हें जोर देकर कहूंगा कि वे अपने विवेक को पुनः जागृत करें।

जीवन में विवेक अथवा ज्ञान का कम महत्त्व नहीं है। विवेक जीवन का सच्चा नेत्र है। उसके बिना प्रगति अन्धी है। कर्मठता, मृदुता, कष्टसहिष्णुता आदि नारी के सहज गुण हैं पर इनकी जो उपयोगिता होनी चाहिए, विवेक के बिना वह हो नहीं पाती। नारी-समाज को आज चिर निद्रा छोड़, अपना विवेक जगाना है।

भारतीय संस्कृति जो जीवन-दर्शन और अध्यात्म से ओत-प्रोत है, के निर्माण और पोषणमें नारी का कम हाथ नहीं रहा। अपने अतीत के गौरव को स्मरण करतेहुए उसे चाहिए कि वह जीवनमें उन अमर तत्त्वों का पुनः संग्रह करे, जिससे उसे तो आत्मप्रेरणा मिलेही, जन-उत्थानमें भी वह सहयोगिनी बनसके। वे अमर तत्त्व हैं—अध्यात्म-शिक्षा, चारित्र्य और शील।

आज फैशनपरस्तीकी बाढ़सी आरही है। सौन्दर्य्य-प्रसाधन के नये-नये कृत्रिम उपाय आविष्कृत होरहे हैं। ये उसी भूतवाद के प्रतीक हैं, जिसके चंगुल में फंस आज पश्चिमके मुल्क भौतिक सुविधाओं के समग्र साधनों के बावजूद भी अशान्ति और अभाव का अनुभव करते हैं। भारतीय दृष्टि में इस कृत्रिम व नश्वर सौन्दर्य्य का कोई महत्त्व नहीं। वहां तो आत्मनिर्मलता तथा सरलता की महत्ता है जो अन्तर-सौन्दर्य्य के प्रतीक हैं। अस्तु—बहिनों विलासिता व कृत्रिम लावण्य-साधना में अपने-आपको न खोएं। वे उसी अन्तर-लावण्य की उपासना करें।

गृहस्थ के निर्माण का बहुत कुछ उत्तरदायित्व गृहदेवियों पर है। यदि वे जीवन में सादगी व सन्तोष लाएं और इस बात के लिए प्रयत्नशील हों कि उनके घरमें पाप और शोषण का पैसा न आए तो वे इसमें बहुत कुछ कामयाब होसकती हैं।

[ता० ४-४-५३ को महिला-जागृति-परिषद्, बीकानेर की ओर से आयोजित महिला-सम्मेलन के अवसर पर]

राजस्थानी-साहित्य की धारा

वास्तव में वही साहित्य सारवान् है, जो जीवनको ज्योतित करनेवाला हो, उसमें सजीवता और सजगता भरनेवाला हो। "साहित्य साहित्य के लिए है"—यह तत्त्व भारतीय विचारधारा में मान्य नहीं रहा। भारत को चिन्तन-धारा जहां कहीं भी प्रवाहित हुई, उसने बहिरंग को चमक में खो अन्तरंग को नहीं भुलाया प्रत्युत उसे सदा याद रखा। यही कारण है कि भारतीय साहित्य का चरम लक्ष्य रहा—जीवन की खोज, आत्मा की अनुभूति, सत्-चित्-आनन्द में लीनता।

यह कहना होगा कि राजस्थानी भाषा के साहित्य में ये तत्त्व बहुलतया संयोजित हैं। इसीलिए इसका महत्त्व है।

राजस्थान की संस्कृति और उसका इतिहास जिस प्रकार गौरवपूर्ण है, राजस्थानी भाषा भी अपने साहित्यिक वैभव और समृद्धि के कारण निराली है। भाषा-विशेष का मो

भी यह कहना होगा कि जिस भाषा में जीवन का सार और आत्मा की अनुभूति मिलती है, क्या वह उपेक्षणीय है ?

राजस्थानी का साहित्य मुर्दों में जान फूंकनेवाला है। इसमें जहां एक ओर चारणों और भाटों की लोह-लेखनी से वीर-रस के निर्झर झरते दीखते हैं तो दूसरी ओर संतों की आत्म-साधना से निकली निर्वेद की निर्मल व निर्द्वन्द्व धारा जिस अनिरुद्ध गति से उसमें बही है, कुछ कहते नहीं बनता।

जैसा कि विदित है—जैन तीर्थंकर तथा आचार्य सदा से लोक-भाषा में अपना उपदेश करते आये हैं। मुझे यह कहते गौरव है कि हमारे तेरापन्थमें हमारे आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु से लेकर आजतक राजस्थानी साहित्य की एक निर्बाध धारा बहती आरही है और राजस्थानी में गद्यपद्यात्मक सरस व विशाल साहित्य लिखागया। हमारे चतुर्थ आचार्य श्रीजीतमलजी अकेलों ने लगभग तीन लाख पद्य लिखे।

मातृभाषा के प्रति मानव का एक सहज आकर्षण होता है। उस भाषा के माध्यमसे वह भावों को अपेक्षाकृत अधिक सरलता व सुविधा के साथ हृदयंगम कर सकता है। इसलिए उसका विशेष महत्त्व है। पर कहना होगा—राजस्थानी का महत्त्व राजस्थानियों ने ही नहीं आंका, उसे एक ग्राम्य भाषा समझा, जबकि उसके अतीत का साहित्य भारत की प्रान्तीय भाषाओं में अपना एक विशेष स्थान रखता है। पर साथ ही साथ यह भी मननीय है कि "राजस्थानी का साहित्य गौरवपूर्ण है, आदर्श

है"—इतनी सी कल्पना से कुछ बनने का नहीं। इस साहित्य ने जो जीवन का सन्देश दिया है, त्याग का पाठ पढ़ाया है, स्वार्थपरता को पुड़का है; इन आदर्शों को जीवन में ढालें। तभी इसके अध्ययन, मनन और अनुशीलन की सार्थकता है।

[ता० १-४-५३ को शार्दूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट की ओर से बीकानेर में आयोजित राजस्थानी-साहित्य-परिषद् के अवसर पर]

संस्कृत ऋषि-वाणी है

संस्कृत कल्पवृक्ष है। उसकी एक छोटीसी शाखा भी मरती हुई आत्मा को संजीवन दे सकती है। बहिरंग दृष्टि में पार्थिव शरीर का अति महत्त्व है। वही सर्वस्व बन गया। फलत: आत्मचेतना मूर्च्छित हो रही है। चारों ओर अशुभ-भविष्य पल रहा है।

"जो आत्मवित् होता है, वह सर्ववित् होता है"—आत्मा को जाने बिना शोक नहीं तराजाता—यह मर्म है; सुख का दिव्य संकेत है। जो आत्मा को भुलाकर चले, उन्हें शान्ति नहीं मिली। बहुत कुछ जानने पर भी नहीं मिली। जो अपने आप में नहीं रम सके, उनका उद्वेग नहीं मिटा—अशेष विद्या का विलोडन करने पर भी नहीं मिटा। इसलिए भगवान् महावीरने कहा है—"अनात्मवान् को विचित्र भाषाएं त्राण नहीं देतीं, विद्यानुशासन

त्राण नहीं देता।" आजका जगत् वासना के दलदल में फंसा हुआ है। उसे परित्राण के लिए ऋषि-वाणी एक बलवान् अवलम्बन है।

ऋषि-वाणी संस्कृत और प्राकृत में रमी हुई है। जैसे कहा गया है—"संस्कृत और प्राकृत ये दो प्रसिद्ध ऋषि-भाषित हैं।" संस्कृत प्रसार पाए, यह आग्रह भाषा की दृष्टि से नहीं, तत्त्वदृष्टि से है। भाषा की दृष्टि से भी इसका कम महत्त्व नहीं है। तत्त्व-दृष्टि से तो यह जीवनदायक है।

संस्कृत का विकास कुंठित होरहा है, इसके कारण हैं:—

(१) शिक्षा के दृष्टिकोण का विपर्यास

(२) दूसरों के महत्त्वांकन की दास्यपूर्ण मनोवृत्ति।

(३) संस्कृत-पंडितोंकी रूढ़िवादिता, समयानुकूल अपरिवर्तन।

(४) गुरुकुल प्रणाली का उच्छेद।

"विद्या वह है जो मुक्तिके लिए हो"—इसके स्थानपर "विद्या वह है जो जीविका का साधन बने"—यह सूत्र चलरहा है।

संस्कृत देवभाषा है, यह जो था, अब नहीं रहा। आज उसके भाग्य में मृतभाषा की उपाधि बची है।

"पग-पग पर जो बदले—नया बने वह सुन्दरताका उपादान है"—यह रट लगानेवाले भी परिवर्तन से घबड़ाते हैं।

गुरु-शिष्य का सम्बन्धपूर्वक अध्ययन करना आज कल्पना जैसा लगरहा है। फिरभी वह व्यापक और निर्दोष है—इसमें कोई सन्देह

स्रोत के प्रतिकूल चलना दुरूह होता है। सब प्रश्नों का समाधान स्वार्थ-त्याग है। जीवन की सुविधा को मुख्य मानकर चलनेवाले कार्य नहीं करसकते। लक्ष्यसिद्धि में प्राण-प्रण से खपनेवाले ही जितने अधिक होते हैं काम उतना अधिक स्फूर्तिमान् बनता है। प्रेयस्-सिद्धिके क्षेत्र में भी त्यागी व्यक्तियों की प्रभुता दीखती है। श्रेयस् का तो सर्वस्व ही त्याग है। श्रेयस् त्यागियों की जन्मभूमि है। त्यागी बढ़ें, अध्यात्ममूलक संस्कृत का गौरव बढ़े—इसी अर्थ में सम्मिलन सफल होसकता है।

[ता० २२-५-५३ को हृषीकेश में आयोजित अखिल भारतवर्षीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के बीसवें अधिवेशन के अवसर पर]

सन्तों की स्वागत-सामग्री त्याग

जोधपुरवासियों ने मेरा स्वागत किया, यह उनके अन्तरतम की भक्ति का परिचायक है। पर साधुओं का कैसा स्वागत? उनका तो यही सच्चा स्वागत है कि लोग जीवन में त्याग, सचाई व नैतिकता को अधिक से अधिक स्थान दें। घुन की तरह जीवन को खोखला बनानेवाली बुराइयों को मिटायें, अपने में चारित्र्य व सादगी लायें।

आज लोग कहते हैं—धर्म खतरे में है पर मेरा कहना है—सच्चा धर्म कभी खतरे में हो नहीं सकता। वह अमर है, शाश्वत है, कभी मिटनेवाला नहीं। वह विश्वशान्ति तथा समता का प्रतीक है। वह वर्ग, जाति, संप्रदाय, धनी, निर्धन तथा महाजन-हरिजन के भेद से अतीत है।

कहाजाता है—नौजवानों में आज धर्म के प्रति श्रद्धा

रही। इसमें नौजवानों का, जमाने का, वातावरण का या शिक्षा-पद्धति का ही एकमात्र दोष है—ऐसा मैं नहीं मानता। तथाकथिक धार्मिक लोगों को भी मैं इससे बरी नही समझता, जिन्होंने धर्म जैसी सार्वजनिक व पवित्र वस्तु को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन मान संकीर्ण बनाडाला। युवकों, बौद्धिक लोगों को यदि घृणा है तो इसीतरह के तथाकथिक धर्म से है, जो संकीर्णता, साम्प्रदायिकता तथा कलह का प्रतीक है। मुझे विश्वास है कि युवक व बुद्धिवादी लोग धर्म के नजदीक आना चाहते हैं। मेरा निजी अनुभव है—सहस्रों युवक, शिक्षित व बुद्धिवादि मेरे संपर्क में आये और धर्म का व्यापक तथा असंकीर्ण रूप जान उसके प्रति निष्ठावान् बने।

यह कितना सुन्दर अवसर है कि जोधपुर में इस समय विविध फिरकों के साधुओं एवं आचार्यों का आना हुआ हैं। सबका कर्त्तव्य होना चाहिए कि असाम्प्रदायिक व व्यापक रूपमें धर्म-प्रचार का कार्य करें। जोधपुर धर्मपुरी बनजाये। जबकि धर्म के नाम पर मल्ल-कुश्तियाँ होती थीं, आज वह जमाना नहीं है। धार्मिक कहलानेवाले आपसमें झगड़ें, यह कहाँ तक शोभनीय है। नम्रता, मिलनसारता, पारस्परिक मैत्री ये तो वे गुण हैं; जो प्रत्येक धार्मिक में होने आवश्यक हैं। धर्माधिकारी एवं धार्मिक जन एकदूसरे पर संकीर्ण भाव से दोषारोपण व छींटाकसी न कर जनता को शान्ति का रास्ता दिखायें। मैं अपनी ओर से साफ कहदेना चाहूँगा—जैसी कि

हमारी सदा से नीति रही है—वातावरण में किसी भी तरह की संकीर्णता नहीं आने पायेगी।

आज स्थिति यह है—लोग समाज व राष्ट्र को ऊँचा उठाने की बातें करते हैं, पर वे अपनी ओर झांकते तक नहीं कि उनका जीवन किधर जारहा है। मैं कहूंगा—सबसे पहले आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति-व्यक्ति अपनी बुराइयों को ढूंढ़ कर उन्हें अपने में से निकाल फेंकने के लिए कटिबद्ध होजाए। इससे समाज तथा राष्ट्र की स्वतः उन्नति होगी। केवल पतन के गीत गाने से कुछ बनने का नहीं। यदि वे सही मानेमें उठना चाहते हैं, अपना व दूसरों का उत्थान करना चाहते हैं तो उन्हें त्याग तथा बलिदान के पथपर आना होगा।

[ता० २२-७-५३ को जोधपुर के नागरिकों की
ओरसे आयोजित स्वागत-समारोह के अवसर पर]

आत्म-विकास और उसका मार्ग

आज चतुर्दशी है। जैन जगत्में चतुर्दशी का विशेष महत्त्व है। आज लोग अनेक प्रकारके त्याग-प्रत्याख्यान रखकर आत्म-विकासके मार्गका अनुसरण करते हैं। यों तिथियों और मुहूर्तोंमें किसी प्रकारकी विशेषता नहीं है। विशेषता तो मनुष्यके विवेकमें ही है। विवेकके अभावमें तिथियों और मुहूर्तोंका कोई मूल्य नहीं।

आजके दिन सब सोचें—हमें क्या करना है? मैं कहूंगा आजके दिन सबको कर्तव्यनिष्ठ बनना है। हां, यह जरूर है कि पहले समझें—कर्तव्यनिष्ठा क्या होती है? कर्तव्यनिष्ठाको समझनेके बाद ही कर्तव्यनिष्ठ बना जासकता है। इसलिए कर्तव्यनिष्ठाको पहचानना सबसे पहले आवश्यक है।

चाण्डालसे नहीं चाण्डाल चौकड़ीसे घृणा करिये

आज आप और बातोंको जाने दीजिये। आज मैं उपस्थित साधु-साध्वी समाज और श्रावक-श्राविका समाज से यही कहूंगा

कि उन्हें कपाय विजय करना है। कपाय क्या है? यह एक सांकेतिक शब्द है। इसमें एक सांकेतिक अर्थ छिपा हुआ है। सभी शब्दोंकी यही स्थिति है। उनमें कुछ न कुछ सांकेतिक अर्थ छिपा रहता है। यहां कपाय से मतलब है—क्रोध, अभिमान, दम्भचर्या और लालच। जैन-साहित्य का यह एक पारिभाषिक शब्द है। दूसरे शब्दों में कपायको चाण्डाल-चौकड़ी भी कहा जाता है। लोग चाण्डालसे परहेज करते हैं। किन्तु उनके घर में ही एक नहीं, दो नहीं बल्कि चार-चार चाण्डाल विराजमान् हैं। ऊपर के चाण्डालको छूने में क्या बिगड़ता है? वास्तविक चाण्डाल तो कपाय है—गुस्सा है। गुस्सेको छूने मात्रसे हानि और विनाश का कोई पार नहीं रहता। घृणा गुस्से से करिये। ऊपर के चाण्डाल से घृणा करना बेकार और निरर्थक है। कहीं चाण्डालसे घृणा इसलिये तो नहीं की जाती है कि वह आजीविकाके लिये मल जैसे घृणित पदार्थ को उठाता है। यदि घृणामें यही तथ्य है तो यह सरासर भूल है। मेरे ख्याल से सम्भवतः चाण्डाल से घृणा करने का कारण उनका निम्नतम खान-पान है। वे निकृष्टतम अखाद्य और अपेय पदार्थोंका उपयोग करने लगे और उनका कोई उच्च-तम आचार-विचार नहीं रहा। इसीलिये वे लोगोंकी दृष्टि में घृणाके पात्र बनगये हैं। किन्तु प्रश्न तो यह है कि घृणा करने-वालों में भी उनसे कुछ अन्तर है क्या? आपने उदाहरण सुना होगा—

बाजारकी मुख्य सड़क पर एक चाण्डालिनी जारही थी। उसके सिरपर मरा हुआ कुत्ता रखा था। हाथमें मृत मनुष्य का खप्पर लिए हुए थी। दोनों हाथ खून से रङ्गे हुए थे। महान् आश्चर्य! साक्षात् राक्षसी-सी प्रतीत होनेवाली यह चाण्डालिनी अपने आगे जल छिटक-छिटक कर पैर रख रही थी। अकस्मात् सामने से एक ऋषि आ निकले। उन्हें इन अनेक विचित्रताओंके सम्मिश्रणको देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उनसे रहा नहीं गया। वे उसके निकट आये, निकट ही नहीं आये बल्कि अपनी जिज्ञासाको शान्त करने के लिये चाण्डालिनी से पूछ ही बैठे—

कर खप्पर सिर श्वान है, लहूनु सरड़े हत्थ।

छिटकत जल चाण्डालिनी, ऋषि पूछत है बत्त॥

ऐ चाण्डालिनी! क्या तू पागल होगई है? यह क्या कररही है? जन्म, कर्म, ख्रान, पान, शरीर आदि सब बातों से अपवित्र होनेपर भी तूने यह क्या पवित्रता का पाखण्ड रच रखा है? चाण्डालिनीने ऋषि की ओर नजर डालते हुए शान्ति-पूर्वक कहा—

तुम तो ऋषि भोरे भये, नहीं जानत हो भेव।

कृतघ्नी की चरण रज, छिटकत हूं गुरुदेव॥

गुरुदेव! आप सन्यासी हैं। आप मेरी बात को क्या समझें? मैं कोई पागल नहीं हूं और न यह मेरी प्रवृत्ति ही

निष्प्रयोजन और पाखण्डयुक्त है। देखिये, यह देखिये, यह जो आगे एक व्यक्ति चला जारहा है, वह महान् कृतघ्नी है। उस जैसा कृतघ्नी दूसरा कोई नहीं है। मैं सोचती हूं, कहीं उस कृतघ्नी की अपवित्र और और अस्पृश्य चरण-रज मेरे न लग जाय। इसीलिये मैं जल छिड़क कर चलरही हूं। कहने का तात्पर्य यह है कि लोग अकृतघ्नताकी चीजें पेट में ठूंसे बैठे हैं और मान बैठे हैं अपने आपको सबसे बड़े। क्या कृतघ्नी मनुष्य भी कहीं बड़ा कहलाने का अधिकारी है? यदि आप वास्तवमें बड़े, उच्च और पवित्र बनना चाहते हैं तो सबसे पहले उपरोक्त चार दुर्गुणों को छोड़िये।

कषाय-विजय के साधन

शास्त्रोंमें इन चार दुर्गुणों पर प्रतिबन्ध लगानेके लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाये गये हैं—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण लोहं सन्तोसओ जिणे॥

आज औषधालयों और चिकित्सालयों की कोई कमी नहीं है। आये दिन नये-नये चिकित्सालयों की बाढ़-सी आरही है। किन्तु किसी भी औषधालय में क्या आजतक कहीं भी क्रोध-रोग की औषधि दी जाती है? क्या उस औषधि का कहीं निर्माण कियागया है? भले ही उन बड़े-बड़े औषधालयोंमें चाहे क्रोध-रोग की औषधि न मिले

यह औषधि मिलती है, मिलती ही नहीं बल्कि सहस्रों शताब्दियों से उसका सफल प्रयोग होता चला आरहा है। वह है 'शान्ति'। गुस्सेके सामने आप शान्ति का प्रयोग करें, गुस्सा पिछले कदमों भाग खड़ा होगा। कोई आप पर गालियों की बौछार करता है तो आप वापिस कुछ भी न बोलें। चुप्पी धारण करलें। यदि आप जानना चाहें कि वह कैसे ग्रहण करें तो लीजिये मैं आपको एक छोटा-सा किस्सा याद दिला दूं। बादशाह अकबर और बीरबलमें सदा हंसी-मजाक चलती ही रहती थी। एक दिन बादशाहने बीरबल से कहा—'बीरबल! तू तो बड़ा अहमन्द है, किन्तु तेरा बाप कैसा है? यह मैं जानना चाहता हूं।' बीरबल बोला—'जहांपनाह! जिस खानके हीरेको आप देख रहे हैं फिर उस खान को देखने का क्या मतलब?' किन्तु बीरबल की यह सूझ कुछ भी काम नहीं आई। बादशाह अपनी जिद्द पर तुला हुआ था। बीरबल आखिर बात को टालने के समस्त उपायों से असफल होगया। बादशाह ने उसे दो आदेश देकर विदा किया। एक तो यह कि 'अपने पिताको शीघ्र राजसभामें उपस्थित करो' और दूसरा यह कि 'उस समय तुम अपने घर पर ही रहो।' आखिर बादशाह का बादशाह कौन? बीरबल घर आया। उसने अपने पिता को नमस्कार करते हुए कहा—'पिताजी! आपको आज बादशाहने राजसभा में आमन्त्रित किया है।' पिता के होश उड़ गये। वे भला कब राजसभा में और कब बादशाह के सामने गये थे। फिर वे अपनी शक्ति

तरह बकने लगे—'अरे! यह कौन बेवकूफ गधा यहां आगया। इसको कुछ तमीज ही नहीं है। निकाल दो इसे।' फिर क्या था? बेचारे अपमानपूर्वक निकाल दिये गये। उनके दिल में बड़ा रंज हुआ। वे सोचने लगे, बादशाह रुष्ट होगये, न जाने अब क्या होगा? इसप्रकार वे चिन्ता करते २ घर पहुंचे। बीरबलने सारा किस्सा सुना। वह पिता को आश्वासन देकर उसी समय राजसभामें आया। राजसभा में तो हंसी-मजाकों के आज बड़े ठहके लग रहे थे। बीरबल को नीचा दिखाने में बादशाह को स्वर्गीय सुख का अनुभव होता था। इसीलिये बादशाह ने यह सारा नाटक रचा था। बीरबलके आने पर तो अब सारी राजसभा ही अट्टहास से एक साथ गूंज उठी। बादशाह को प्रणाम कर अपने स्थान पर बैठते ही बादशाह ने जोरों के साथ हंसते हुए प्रश्न किया।—'अरे बीरबल! यदि बेवकूफों से पाला पड़ जाय तो क्या करना?' बीरबल ने तपाक से उत्तर देते हुए कहा।—'जहांपनाह! चुप रहना।' ओह! उत्तर क्या था, बम का गोला था। बादशाहकी सारी आशायें और हंसी पर क्रूर तुषारापात होगया। वे एकदम चुप हो गये, मन ही मन बीरबल पर बड़ी कुढ़न हुई। हाय! यह कैसा व्यक्ति है इसने तो उल्टा मुझे ही बेवकूफ बना दिया। यह किस्सा और चाहे कैसा ही हो, हमें तो इससे यही शिक्षा लेनी है कि यदि बेवकूफों से, गुस्सेबाजों से काम पड़जाय तो बिल्कुल चुप रहना। चुप रहनेमें ही गुण है, अन्यथा न जाने

सड़कोंपर कितने ही बेवकूफ मिलते हैं, क्या उनसे बराबर बोल-कर उनके साथ सिरफोड़ी की जाय ? गाली देनेवालेको वापिस गाली देनेवाला भी उस जैसा ही बेवकूफ बन जाता है। आप एक दृष्टिकोण रखिये। गुस्से पर आपको काबू करना है। सारी दुनियां पर काबू करना सरल है, करोड़ों आदमियों को जीतना सरल है किन्तु अपनेआप पर काबू करना बहुत कठिन है। दुनियां पर काबू करनेवाले अपने मन और अपनी इन्द्रियों के आगे हार खागये, शिथिल पड़ गये और निस्तेज बन गये। वह मनुष्य महान मनुष्य है, परमात्मा का साकार अंश है जो अपने पर काबू रखता है। आप विचार करिये— कोई आपको गुस्से में आकर गाली देता है तो क्या आपका कुछ बिगड़ता है ? आप इस श्लोक को याद रखिये—

'ददतु ददतु गालिं, गालिमन्तो भवन्तः,
वयमिह तदभावात्, गालिदानेऽप्यसक्ताः।
जगति विदितमेतद्, दीयते विद्यतेतद्,
नहि शशक-विषाणं कोऽपि कस्मै ददाति' ॥

'हां-हां दो-दो श्रीमान् ! और गाली दो।' 'अरे वाह ! मैं ही मैं क्यों ? वापिस आप क्यों नहीं देते' ? भाई साहब ! मैं कहां से दूं ? मैं क्या गालीवान् हूं जो दूं ? आप ही गालीवान् हैं।' यह जगत् प्रसिद्ध बात है कि जिसके पास जो होता है, वह वही देता है। क्या खरगोश के सींग कोई किसीको दे सकता है ? यह

सुनकर वह गाली देनेवाला अपने आप शर्मिन्दा होकर चुप हो जायगा और वह करेगा ही क्या ?

'अतृणे पतितो वन्हिः स्वयमेवोपशाम्यति'।

घास-फूस रहित स्थानमें पड़ी हुई अग्नि भक्ष्य न पाकर अपने आप शान्त होजाती है। इसलिये दुष्ट और गुस्सेवालोंसे भिड़ने में कोई लाभ नहीं होता। उनसे तो दूर रहनेमें ही फायदा है।

हां राजनीति का मार्ग इससे अवश्य भिन्न है। वहां तो यहां तक कहा जाता है कि—

गण्डक दुष्ट गुलाम, पुचकार्यां बांध्यां पड़े,
कूटयां आवे काम, नरमी भली न राजिया।

यह कथन धर्मनीति का नहीं, राजनीति का है। धर्मनीतिका तो यह कहना है कि यदि दुष्ट मिलजाय तो उससे दस हाथ दूरसे निकलो। अतः सबसे पहले गुस्सेको जीतो। गुस्सेको जीतनेके बाद अभिमानको ऋजुता--सरलतासे जीतो। गुस्सा और अभिमानका अन्यान्य-सम्बन्ध है। जहां गुस्सा वहां अभिमान अवश्य मिलेगा और जहां अभिमान, वहां गुस्सा। गुस्से और अभिमान को पराजित करने के बाद दम्भचर्या और लालच को कोमलता और सन्तोष वृत्तिसे परास्त करो। साधु-सन्तोंका तो यह सबसे पहला कर्त्तव्य है कि वे कषाय से बिल्कुल परे रहें। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो वे औरोंका क्या कल्याण करेंगे ? साधुओंको दोनों काम करना है—तिरना और तारना, उठना, और उठाना

जागना और जगाना। उन्हें ख़याल रहे वे वीतरागके मार्गपर अग्रसर हुए हैं। साहसपूर्वक अन्तरङ्ग शत्रुओं पर आक्रमण करते हुए आगे बढ़ें। उन्हें अवश्य रास्ता मिलेगा और सफलता उनके चरण चूमेगी।

समय का सदुपयोग

दूसरी बात है—समय को कैसे बिताया जाये। आप सोचें, मनुष्यका कीमती समय कितना बेकार जारहा है। मनुष्य उसके मूल्यको नहीं समझता। यह ख़याल रखिये—जो अमूल्य समय आपके हाथोंसे निकलरहा है वह मुड़कर कभी नहीं आयेगा। जो अपना सारा समय खाने, पीने और तुच्छ क्रियाओंमें ही गंवा देते हैं, न सत्सङ्ग करते हैं और न सत्साहित्य का अध्ययन, न आत्मलोचन करते हैं और न आत्मानुसन्धान उनका जीवन 'अजागलस्तनस्येव तेषां जन्म निरर्थकम्'—बकरीके गले में पैदा हुए स्तनोंके समान बिल्कुल बेकार और निरर्थक है। जीवन सफल और सार्थक उनका ही है जो अपने बहुमूल्य समयको सत्प्रवृत्तियों में लगाते हैं। कहा भी है—

काव्यशास्त्रविनोदेन, कालोगच्छति धीमताम्।
व्यसनेनैव मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा॥

विद्वानों का हर क्षण काव्य और शास्त्रोंके विनोद में बीतता है और इधर मूर्खोंका हर क्षण लड़ाई-झगड़े, फिसाद, प्रमाद और निद्रामें बीतता है। इससे फलितार्थ यह निकलता

है कि जो समय को अच्छी प्रवृत्तियोंमें लगाते हैं वे विद्वान हैं और जो समय को दुष्प्रवृत्तियों में खोते हैं वे निरे मूर्ख हैं। संक्षेपमें यह समझिये कि जिसने अपना समय व्यर्थ खो दिया, उसने अपनी जिंदगी ही खो दी। इसलिये समयका मूल्य आंकिये—मिनट-मिनट का बटवारा कीजिये। सायंकालीन प्रार्थनामें हम प्रभुसे यही तो प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! हमारा प्रतिपल सफल व्यतीत हो। प्रतिपल हम यही सोचें कि हमने जो-जो नियम ग्रहण किये हैं, उनपर हमारी दृढ़ निष्ठा बनी रहे। यश और पदलोलुपता से परे रह कर हम हर पल आगे बढ़ते रहें। विकारों की शृङ्खला को खण्ड-खण्ड कर हम अपनी अन्तिम मञ्जिलको पानेका सतत उद्योग जारी रखें।

प्रार्थना का तत्त्व

वास्तवमें उपरोक्त प्रार्थना ही सच्ची ईश्वर प्रार्थना है। मन्दिर, मस्जिद और धार्मिक स्थानोंमें जाकर प्रभुसे धन, सम्पत्ति और पुत्र की प्राप्तिके लिये प्रार्थना करना प्रार्थना नहीं, स्वार्थ-साधना है। यह कितनी बड़ी अज्ञान भरी बात है कि लोग तनिक से चढ़ावेसे अपनी सारी ऐहिक मनोकामनायें पूर्ण करना चाहते हैं। यह देवोंके साथ आंख-मिचौनी नहीं तो और क्या है? हम प्रभु से प्रार्थना करें, प्रार्थना तो हम अपनी आत्मासे ही करते हैं, प्रभु तो हमारी प्रार्थना के साक्षी हैं। हम यही कहें कि प्रभो! हमारे प्राण भले ही छूट जायें किन्तु हम अपनी मर्यादा पर—

अपने प्रणपर सदा अटल रहें। हम यह न कहें कि प्रभो! हमारे पर कोई विपत्तिका तूफान आये ही नहीं किन्तु यह कहें— प्रभो! अगर हमारे सिर पर विपत्ति का तूफान आये तो हम सहिष्णुतापूर्वक उसका डटकर सामना करें। हम कभी घबरायें नहीं। हमारा मनोबल सदा मजबूत रहे। हमारे पल-पलका सदा सदुपयोग हो।

उपसंहार

अन्तमें मैं सब लोगोंसे यही कहूंगा कि वे कषाय पर विजय पाकर और समय के मूल्यको पहचान कर अधिकसे-अधिक जीवन को विकसित और सफल बनायें। स्वार्थसाधनकी वृत्तियोंको त्यागकर उनके स्थानपर जीवन में आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को स्थान दें, जीवन में नैतिकता पनपायें और धर्मको उतारें। यह आशा करता हुआ मैं आजके वक्तव्य को समाप्त करता हूं।

ता०२३-७-५३
जोधपुर (राजस्थान)

थके का विश्राम

शान्ति लाने के लिए बड़े-बड़े युद्ध लड़ेगये। लाखों मनुष्यों की लाशों से भूमि पटगई, करोड़ों मनुष्यों के करुण क्रन्दन से दुनिया चीत्कार उठी पर वह शान्ति वह अमन कहां? जिसके लिए भीषण अनाचार हुए। कोरिया की हाल की सन्धि इसका जीता-जागता सुबूत है। वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों से सजी समर-भूमि में जूझती हुई दुनियां की बड़ी-बड़ी ताकतों ने आज घुटने टेकदिये हैं और यह महसूस किया है कि जो बात मैत्री, प्रेम और सद्भावना से बन सकती है; वह रक्तपात और हिंसा से बन नहीं सकती।

कोरिया के महासमर में मारेगये और अपंग बने सिपाहियों व नागरिकों के लम्बे आंकड़े सुन दिल दहल उठता है। वैज्ञानिक तथा उन्नत कहेजानेवाले आज के संसार की यह खूनी प्यास क्या विज्ञान व उन्नति के नाम एक विडम्बना नहीं? मैं स्पष्ट

कहूँगा—शान्ति लाने का यह तरीका उतना ही गलत है, जितना कि बालू से तेल निकालना। आजतक का इतिहास इसका साक्षी है कि जैसे आग से आग बुझ नहीं सकती, उसी तरह हिंसा से हिंसा मिट नहीं सकती। यदि संसार शान्ति चाहता है तो उसे अहिंसा, समानता और सन्तोष को अपनाना होगा।

आज निर्माण का समय है। युद्धों; संघर्षों और मनमुटावों के मूल कारण अनीतिमय एवं स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण को मिटा, निःस्वार्थवृत्ति, सद्भावना एवं संयत आचरण को बढ़ावा देना है। भाईचारे को आगे रखते हुए मैत्री व समता के वातावरण को प्रतिष्ठित करना है। संसार के बच्चे-बच्चे को आज इसके लिए लगजाना है। ऐसा होने से ही आये दिन के युद्धों और संघर्षों से छुटकारा मिल सकेगा!

ता०-२-८-५३
केवल भवन, मोती चौक, जोधपुर

थके का विश्राम

शान्ति लाने के लिए बड़े-बड़े युद्ध लड़ेगये। लाखों मनुष्यों की लाशों से भूमि पटगई, करोड़ों मनुष्यों के करुण क्रन्दन से दुनियां चीत्कार उठी पर यह शान्ति वह अमन कहां ? जिसके लिए भीषण अनाचार हुए। कोरिया की हाल की सन्धि इसका जीता-जागता सुबूत है। वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों से सजी समर-भूमि में जूझती हुई दुनियां की बड़ी-बड़ी ताकतों ने आज घुटने टेकदिये हैं और यह महसूस किया है कि जो बात मैत्री, प्रेम और सद्भावना से बन सकती है; यह रक्तपात और हिंसा से बन नहीं सकती।

कोरिया के महासमर में मारेगये और अपंग बने सिपाहियों व नागरिकों के लम्बे आंकड़े सुन दिल दहल उठता है। वैज्ञानिक तथा उन्नत कहेजानेवाले आज के संसार की यह खूनी प्यास क्या विज्ञान व उन्नति के नाम एक विडम्बना नहीं ? मैं स्पष्ट

कहूंगा—शान्ति लाने का यह तरीका उतना ही गलत है, जितना कि बालू से तेल निकालना। आजतक का इतिहास इसका साक्षी है कि जैसे आग से आग बुझ नहीं सकती, उसी तरह हिंसा से हिंसा मिट नहीं सकती। यदि संसार शान्ति चाहता है तो उसे अहिंसा, समानता और सन्तोष को अपनाना होगा।

आज निर्माण का समय है। युद्धों; संघर्षों और मनमुटावों के मूल कारण अनीतिमय एवं स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण को मिटा, निःस्वार्थवृत्ति, सद्‌भावना एवं संयत आचरण को बढ़ावा देना है। भाईचारे को आगे रखते हुए मैत्री व समता के वातावरण को प्रतिष्ठित करना है। संसार के बच्चे-बच्चे को आज इसके लिए लगजाना है। ऐसा होने से ही आये दिन के युद्धों और संघर्षों से छुटकारा मिल सकेगा।

ता०-२-८-५३
केवल भवन, मोती चौक, जोधपुर

जीवन-विकास और आजका युग

जीवन और विकास

जीवन और विकास ये दो शब्द हैं। दोनों को समझना है। जीवन को समझे बिना विकास समझ में नहीं आ सकता। अगणित कोटि के जीवन में जो सबसे महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य जीवन है वह है मानव जीवन। सब दर्शनोंने मानव-जीवनकी दुर्लभता और बहुमूल्यता एक स्वर से गाई है। सहसा प्रश्न उठेगा—मानव जीवन में ऐसा क्या है, जो उसकी इतनी महत्ता गाई जाती है ? उत्तर सीधा है—जो वस्तु थोड़ी, दुष्प्राप्य और कीमती होती है उसकी महत्ता अपनेआप फैल जाती है। यही बात मानव जीवनमें लागू होती है। वह बहुत कम, दुष्प्राप्य और कीमती है। मानवको सोचना चाहिये कि इस थोड़ेसे समयमें मेरा वास्तविक कार्य क्या है ? मेरा जीवन कैसा है और किधर

जारहा है? वह मिथ्या-छलनामें न फँसे। मिथ्या गर्वसे अपनेआपको बचावे। हृदय, दिमाग, बुद्धि, यौवन, रूप, संपत्ति, आयु आदिके मिथ्या आडम्बरों—प्रलोभनोंमें फँसकर अपनी गतिको कुंठित न करे। इन चीजोंपर वह गर्व किस बातका करे। गर्व करना हास्यास्पद है। महर्षियोंने कहा है—

आयुर्वायुतरत्तरंगतरलं लग्नापदः सम्पदः ।
सर्वेपीन्द्रियगोचराश्च चटुलाः संध्याभ्ररागादिवत् ॥
मित्र-स्त्री-स्वजनादिसंगमसुखं स्वप्नेन्द्रजालोपमम् ।
तत्किं वस्तु भवे भवेदिहमुदा मालम्बनं यत्सताम् ॥

आयु वायुकी चपल लहरोंकी तरह अस्थिर है। संपत्ति आपत्तियोंसे घिरी हुई है। है ही। सम्पत्ति है तो पुत्र नहीं है, पुत्र है तो विनीत नहीं है या स्वयं रोगादि कारणों से इतना निर्बल है कि उस सम्पत्तिका कुछभी उपभोग नहीं कर सकता। इन्द्रियों के सारे विषय सांध्य-बादलोंकी क्षणिक रंगरेलीके समान हैं। मित्र, स्त्री, स्वजन आदिका संगम-सुख स्वप्न या इन्द्रजालके समान मिथ्या है। फिर भला संसारमें ऐसी कौनसी वस्तु है जो मनुष्यके लिये आनन्दका आलम्बन बन सके—गर्वको उत्तेजना दे सके?

जीवन का लक्ष्य

जीवनका लक्ष्य क्या है? उसको टटोलिये। वह कहीं बाहर मिलनेवाला नहीं है, अपने भीतर ही खोजिये। आत्माव-

लोकन कीजिये। वह है—जीवनका जागरण, विकास और निर्माण। इसके लिये आप कमर कसकर तैयार होइये। जीवन को विकसित करना है। अब एक क्षण भी व्यर्थ खोना ठीक नहीं। क्योंकि भगवान् महावीरने चेतावनी देते हुये कहा है।

जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढइ।

जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे॥

जबतक वृद्धावस्था पीड़ित न करे, रोगोंका आक्रमण न हो और इन्द्रियां क्षीण न पड़े, तबतक जितना होसके, उतना धर्म-संचय करनेका अविलम्ब प्रयत्न करो।

यदि इस विषय में लापरवाहीकी तो फिर ऐसा अवसर सुलभ होना अत्यन्त दुष्कर है। 'जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ' जो-जो रात्रियां बीतरही हैं, वे लौटकर नहीं आयेंगी इसलिये 'समयं गोयम मा पमायए' क्षण मात्र भी प्रमादमें व्यर्थ मत खोओ।

आत्मानुशासन

आप पूछगे जीवनका विकास कैसे होता है?

जीवन विकासके अनेक मार्ग हैं। हां, हैं वे अवश्य पुराने। आज विज्ञानका समय है। सबको नई रोशनी चाहिये। किन्तु हम पुराने और नयेके झगड़ेसे परे हैं। मैं न तो कट्टर पुराण-पन्थी ही हूं और न कट्टर नवीन-पन्थी ही। जिसमें मुझे जो वस्तु अच्छी मिलती है उसे मैं ग्रहण करनेका सदासे पक्षपाती हूं।

जीवन विकासका सबसे महान सूत्र है—आत्मानुशासन। लोगों ने विदेशी हुकूमतसे मुक्त होकर स्वाधीनताका वरण किया पर मैं समझता हूं उनकी आत्मा से अभी भी विदेशी हुकूमत नहीं उठी है। यहां विदेशी शब्दसे मेरा मतलब देश-विदेशसे नहीं वरन् उनपर स्वयंकी आत्माका अनुशासन न होकर आत्मातिरिक्त-प्रलोभनोंका अनुशासन है। इस परानुशासनको हटाये बिना वास्तविक आजादी कहां ? परानुशासनको हटानेके उपाय हैं—संयम,चरित्र और नियंत्रण। संयम क्या है ? आत्मानुशासन का विकसित रूप ही संयम है। वह कब होगा ? इस महत्त्वपूर्ण पाठको जीवन में उतारनेसे—

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे ।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस मे परमो जओ ।

संग्राममें सहस्रों योद्धाओंको जीतनेवालेसे भी वह व्यक्ति महान् विजेता है जिसने अपनी आत्माको जीत लिया है। वास्तवमें आत्म-विजय ही सबसे बड़ी विजय है। इसीलिये तो कहा है—

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ:—"ऐ प्राणी ! तू अपनी आत्माके साथ संग्राम कर, उस पर विजय पा। दूसरोंके साथ संग्रामकर उनपर विजय पानेसे तुझे कोई लाभ नहीं होगा ? अपनी विजय ही परम-विजय है। वह संयम और आत्म-नियन्त्रणसे ही संभव है।

स्व-सुधार या पर-सुधार

आजका समय बड़ा विचित्र है! लोग अपने आपको नहीं देखते। दूसरोंकी बड़ी लम्बी-लम्बी आलोचना करने को तैयार रहते हैं। अपने बड़े-बड़े दोष भी नजर नहीं आते और दूसरोंके अति तुच्छ दोष भी बहुत बड़े रूपमें नजर आने लगते हैं। महर्षि भर्तृहरिने ठीक ही कहा है—

"परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्य,
निज हृदि विलसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः"

—दूसरेके परमाणुतुल्य—अति तुच्छ गुणोंको पर्वतके समान अति महान् समझ, प्रसन्न होनेवाले सज्जन पुरुष कितनेक हैं। इसके विपरीत आज उन लोगोंका कोई पार नहीं जो अपने तो पर्वत तुल्य अति महान दोषोंको अन्दर के अन्दर छिपा लेते हैं और दूसरों के परमाणु-तुल्य—अति तुच्छ दोषोंको पर्वत समान-अति महान् बनाकर सर्वत्र डंका पीटते फिरते हैं। दूसरों के दोषोंकी आलोचना करने का वही अधिकारी है जो स्वयं बिलकुल निर्दोष हो। इस सम्पूर्ण सत्य -सिद्धान्त को हृदयंगम करने के लिये महात्मा ईसाका किस्सा अत्यन्त सामयिक है।

बादशाह ने चोरको प्राण-दण्डका आदेश दिया। वह भी नये तरीकेसे। बादशाह ने सारे नगर में एलान कराया कि नगर के सारे लोग नगर के बाहर चले जायें और एक-एक पत्थर हाथमें लेकर चोर पर प्रहार करें। नगर के बाहर तमाशा-सा लगगया। एक निश्चित स्थान पर चोरको खड़ा

किया गया। उसकी दशा बड़ी दयनीय थी। वह मन ही मन सोच रहा था कि यदि मैं इसबार छूट जाऊं तो आगे फिर कभी चोरी नहीं करूंगा। एक तरफ पत्थरों का ढेर लगा हुआ था। तमाशा देखने और तमाशे के सक्रिय पात्र बनने के लोभ से नगर के समस्त लोग वहां पर उपस्थित हुए। चोर पर प्रहार करने के लिये ज्यों ही लोगोंने अपने हाथोंमें पत्थर उठाये त्यों ही महात्मा ईसा मसीह वहांपर सहसा आ निकले। वे इस अनैतिकतापूर्ण—भीषण दृश्यको देखकर कांप उठे। उन्होंने एक ऊंचे टीलेपर चढ़कर लोगोंको एक सलाह देते हुये कहा—"बन्धुओं! मैं आपको कोई आज्ञा देनेके लिये खड़ा नहीं हुआ हूं। मैं तो आपको एक तुच्छ सलाह देना चाहता हूं। वह यह है कि आप में से चोर को पत्थर से वही व्यक्ति मारे जिसने कि अपने जीवन में कभी प्रत्यक्ष या परोक्ष में किसी प्रकार की चोरी न की हो। आप दो क्षण विशुद्ध आत्म-चिन्तन-पूर्वक सोचें कि आपने कभी चोरी तो नहीं की है? चोरी का मतलब सिर्फ यही नहीं है कि किसीकी तिजौरी तोड़कर पैसा उड़ाना। दूसरे के अधिकारों को छीनना और शोषण करना भी चोरी के प्रमुख अंगोंमें से है।" लोगोंपर महात्मा ईसाकी बातका जादूका सा असर हुआ। उन्होंने विचार किया हम चाहे प्रत्यक्ष चोर न हों किन्तु परोक्ष चोर तो हैं ही। एक-एक कर सारे लोग वहांसे खिसक गये। किसीने भी साहूकारीका दम भरकर चोरपर प्रहार नहीं किया। राजपुरुषों ने सारी

स्थिति बादशाह तक पहुंचाई। बादशाह ने रोषपूर्वक ईसाको पकड़कर बुलवाया। ईसाने राज्य-मजलिस में खड़े होकर निर्भीकतापूर्वक बादशाहके सामने सारी घटना उपस्थित की और अन्तमें बादशाह से भी यह निवेदन किया कि—"जहांपनाह! आपभी विचार करें, क्या आप सच्चे अर्थमें साहूकार हैं? क्या आपने पर-अधिकारोंको जबरदस्ती से नहीं छीना है?" बादशाह अवाक् रह गया। महात्मा ईसाने आगे कहा—"मैं यह नहीं कहता कि चोरको दंड नहीं देना चाहिये। किन्तु दण्ड ऐसा तो न होना चाहिये जो मानवीय नीतिकी सीमा को ही लांघ जाय। दण्ड में भी एक नीति होती है—उसका तो अतिक्रमण नहीं होना चाहिये।" बादशाह महात्मा ईसाके आगे नतमस्तक होगया। उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुये उसी समय चोरको भविष्यमें चोरी न करने की शिक्षा देकर छोड़ने का आदेश दिया। यही बात आजके लिये है। लोग अपने आपको नहीं देखते। औरोंके लिये निरन्तर कटु-कटाक्ष करते रहते हैं। आज जो बड़े-बड़े अधिकारी कानून और नियम बनाते हैं खुद वे ही सबसे पहले उन कानूनों और नियमों की अवहेलना करते हैं। कानून बनानेवाले ही जब कानूनका भंग करेंगे तब दूसरे उसको कैसे पालेंगे? और कैसे वे दूसरों से पालनेकी आशा भी कर सकेंगे। यह न न्याय ही है और न मानवीय आदर्श ही।

लोग औरोंको सुधारने की बात करते हैं, किन्तु स्वयं सुधरने

को क्यों नहीं करते ? औरोंको सुधारनेसे तो बेहतर है यह पहले स्वयं सुधर लें। स्वयंके सुधारको भूलकर आज लोग पर-सुधार की चिन्तामें पड़े हुये हैं। यह अनुचित है। आत्मावलोकन कीजिये—देखिये—मेरे सुधारकी सीमा क्या है ? और मेरी सुधारकी गति किस रफ्तार से चलरही है ? मैं मेरे साथ छलना, दंभ और अन्याय तो नहीं कर रहा हूं ? यह निश्चित समझिये बिना आत्म-चिन्तनके आत्म-नियन्त्रण जागृत नहीं हो सकता। आत्म-नियन्त्रणके अभावमें संयम सम्भव नहीं और संयमके बिना विकासकी बातें गगनकुसुमकी तरह निरर्थक हैं। इन परमार्थ सारगर्भित बातोंको कौन सोचे। देखिये—इन साधुओं ने आत्म-विकासकी जागृतिके लिये कठोरातिकठोर संयम-मार्ग को अपनाया है। आत्म-दमन किया है। आप यदि पूर्ण संयमकी साधना नहीं कर सकते तो अंशतः तो उसका पालन कीजिये। ऐसा करने से भी आप बहुत सी बुराइयोंसे बच सकेंगे। जबतक ऐसा नहीं किया जायेगा तबतक आत्म-विकास सम्भव नहीं।

हिंसा पर नियन्त्रण

बुराई से बुराई कभी मिट नहीं सकती। हिंसा से हिंसा ही बढ़ती है। हिंसासे हिंसाको मिटाने का प्रयत्न अग्निको बुझानेके लिए उसमें घृत डालनेके समान है। हिंसाका प्रतिकार अहिंसासे ही किया जा सकता है। अहिंसा की प्रबल शक्तिके सामने यह अपनेआप मर मिटेगी। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि

संसार से हिंसा बिलकुल खत्म हो जाय। क्योंकि जबतक काम, क्रोध, मद, लोभ आदि दुर्गुणों का अस्तित्व रहेगा तबतक हिंसा का अभाव होना असम्भव है। यह होते हुए भी अहिंसा को अधिक आदर और उसको उच्च दृष्टि से देखना कल्याणकारी है। हिंसा और अहिंसाकी मात्रा पर ध्यान रखना आवश्यक है। हिंसा संसार से बिलकुल मिट न सके। फिरभी उसकी मात्रा अनावश्यक अधिक न बढ़जाय, इस ओर जागरूक रहना भी लाभदायक है। इसके साथ-साथ अहिंसा की मात्रा क्रमशः अधिकाधिक बढ़ती रहे, वह हिंसा को दबाये रखे। उसको संसार पर हावी न होने दे, उसको उच्छृङ्खल न होने दे और अपनी प्रधानता कायम रखे, इस तथ्य को आंखों से ओझल न होने देना ही हिंसा की मात्रा रोकने का सफल प्रयास है।

अपनेआपका वाद

समस्त सुधार और विकासका आधार अध्यात्मवाद है। अध्यात्मवाद क्या है? इसको समझना बिलकुल सरल है। आप आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदिमें जाकर उलझ पड़ते हैं। मेरी दृष्टिमें ये कोई इतनी बड़ी उलझनें नहीं हैं। फिरभी ये कुछ गहन और गम्भीर तो हैं ही। अध्यात्मवादसे आप इतना ही समझिये कि—'अपनेआपका वाद'। दूसरे शब्दोंमें—"अपने लिए अपना नियन्त्रण—संयम"। आपके मनमें आशंका होगी—आत्मा कहां है? परमात्मा कहां है? मैं कहता हूं आप इन बातों को एकबारगी छोड़ दीजिये। ये अति गम्भीर प्रश्न हैं। कमसे

कम इतना समझिये—आपको अपना जीवन बिगाड़ना नहीं है। आत्म-नियन्त्रण इस जीवन में तो सुख और शान्तिप्रद है ही अगर अगला जीवन भी है तो उसके लिए भी वह ठीक ही है। सम्भवतः जोधपुर की ही बात है—एक राज्याधिकारी हमारे गुरु महाराज के पास आकर कहने लगे—"महाराज! आपसे एक सवाल है। आप जो सारी सुख-सामग्रियों को ठुकराकर इतनी कठोर साधना कर रहे हैं—आत्म-नियन्त्रण कर रहे हैं, अगर अगला जीवन नहीं हुआ तो आपकी यह कठोर तपश्चर्या और आत्म-नियन्त्रण यों ही व्यर्थ जायेगा और आप इस जीवन के सुखों से भी वंचित रहेंगे।" गुरु महाराज ने सस्मित उत्तर देते हुए फरमाया—"आपकी बात मिल गई तो सिर्फ इतना ही तो होगा कि हम इस जीवनकी भौतिक सुख-सुविधाओंसे वंचित रह जायेंगे। किन्तु हमारी बात ठीक निकल गई तो, आप जो साधना और आत्म-नियन्त्रण को व्यर्थ समझ कर भौतिक सुख-सुविधाओं में आकण्ठ डूबे हुए हैं, फिर क्या हालत होगी?" इसलिए आत्म-नियन्त्रण तो सदा ही अच्छा और उपयोगी है। यदि अगला जन्म है तबभी और यदि न है तबभी। यह स्पष्ट है कि जब तक आत्म-नियन्त्रण नहीं होगा तबतक आत्म-भय भी नहीं होगा और आत्म-भय के अभाव में आत्म-विकास का स्वप्न ही कैसा? आत्म-भय के अभाव में ही मनुष्य ऐसा निन्द्यकार्य करने लगता है कि पहले कोई देखे तो पाप नहीं करेंगे और जहां कोई देखनेवाला नहीं है वहां पाप करने में क्या हानि

है ? ऐसे व्यक्ति यह नहीं सोचते कि चाहे कोई व्यक्ति देखे या न देखे किन्तु तू स्वयं तो देख ही रहा है। इसके विपरीत जहां आत्म-भय होगा वहां व्यक्ति यही सोचेगा कि चाहे कोई देखे या न देखे, मैं तो देख ही रहा हूं। इस सारपूर्ण अन्तर के होते ही मनुष्य की समस्त गुत्थियां सुलझने लगेंगी।

धर्म क्या है ?

अध्यात्मवाद की नींव धर्म पर टिकी हुई है। धर्म क्या है ? जो आत्मा की शुद्धि के साधन हैं वही धर्म है। धर्म प्रलोभन, बलात्कार और बलप्रयोग से नहीं होता। धर्म जिन्दगी को बदलने से होता है; अन्यान्य अत्याचार और शोषण से भय रखने से होता है। इसलिये जिन्दगी को बदलो, अत्याचारों से भय रखो और जिन्दगी को सुधारो।

शिक्षा-प्रणाली

लोग कहते हैं आजकी शिक्षा-प्रणाली ठीक नहीं है। यह सही है, जिस शिक्षा-प्रणाली में आत्मानुशासन और आत्म-जागरण को स्थान नहीं, वह शिक्षा-प्रणाली अधूरी, अपूर्ण और विनाशकारी है। शिक्षा वही है जो आत्मानुशासन सिखाती है। "सा विद्या या विमुक्तये" यह पद शिक्षाके मौलिक उद्देश्यपर वास्तविक प्रकाश डालता है। वह क्या शिक्षा जिसमें आत्मानुशासन और आत्म-जागृतिके तरीके नहीं बताये जाते ? इससे तो कहीं प्राचीन शिक्षा-प्रणाली अच्छी थी—जिससे आत्म-पतन नहीं होता था। इसलिए ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो आत्म-

मानवता है। सबसे बड़ी भूल आज यही होरही है कि लोग इस महान साध्य को भूल गये हैं। उनका दृष्टिकोण भ्रान्त बन गया है। यही कारण है आज वे दुर्व्यसनों के दास बनेहुए है। मजे की बात तो यह है कि लोग दुर्व्यसनों के गुलाम होते हुए भी इस गुलामी को समझते तक नहीं। इसको मिटाने का तरीका यही है कि लोग पहले इस गुलामी को समझें और तदन्तर अधिकारों की लिप्सा, अन्याय, दुराचार और शोषणको छोड़कर जीवन-विकासके क्षेत्रमें आगे कदम बढ़ायें।

उपसंहार

अन्त में मैं आपसे यही कहूंगा कि आप बहीर्मुखी दृष्टिकोण को त्यागकर अन्तर्मुखी दृष्टिकोण बनाइये। अन्तर्मुखी दृष्टिकोण का विकास आत्मानुशासन के द्वारा संपादित होता है। अतएव 'उठो और उठाओ' जैसे पूर्ण सर्वग्राही और सर्वव्यापक सिद्धान्त को ग्रहण कर अपने जीवन-विकास में प्राणपण से जुट जाइये। यह कीमती, अल्पकालिक और दुष्प्राप्य मानव-जीवन तबही सफल बनेगा जब आप आत्म-भय, आत्म-नियन्त्रण, आत्मानुशासन और संयम जैसे महत्त्वपूर्ण मानवीय आदर्शोंको अपनाकर अपने विकास, सुधार, जागरण, उन्नयन और निर्माणमें स्फूर्तिप्रद प्रेरणा ग्रहण करेंगे और दूसरोंके लिये ऐसा ही स्फूर्तिप्रद प्रेरणात्मक पथ-प्रदर्शन करेंगे।

ता० २-८-५३
जोधपुर (राजस्थान)

नियम का अतिक्रम क्यों ?

समय का प्रवाह नियमित चलता है—यह सबने देखा है। प्रकृतिमें ऐसा नियम और प्रकृति-विजयी होनेका गर्व करनेवाला मनुष्य नियमका अतिक्रम कियेचले—क्या यह उसके लिये शोभा की बात है ? ऋषि-वाणीमें कहा है—"हाथका संयम करो, पैरका संयम करो, वाणीका संयम करो और इन्द्रियोंका संयम करो।" आखिर संयम क्यों ? थोड़ेमें इसका उत्तर यही कि यह दोष-निरोधक टीका है। रोग-निरोधक टीके लगाये जाते हैं इसलिये कि स्वस्थता बनी रहे किन्तु बुराई-निरोधक टीका लिये बिना स्वस्थता आयेगी कहांसे और टीके भी कैसे—इसपर विचार कीजिये।

संयम से आत्मानुशासन पैदा होता है। आत्मानुशासन से स्वतन्त्रताका स्रोत निकलता है। स्वतन्त्रताका उत्सव मनाने वालों को उसका सही रूप समझना चाहिये।

अपनेपर अपना नियन्त्रण न होसके तब कैसी स्वतन्त्रता ? स्ववशतामें सुख है और परवशतामें दुःख—यह सत्य या तो सत्य नहीं या इसका सही रूप पकड़ा नहीं जारहा है। कहीं अवश्य भूल है, नहीं तो स्वतन्त्र होनेके बाद इतना आर्त्तस्वर क्यों सुनने को मिलता है ?

पदार्थ निकाले हैं हमें उनका उपयोग करना चाहिए। उनकी अनुसंधानपूर्ण सम्पत्ति अनुपयोगी नहीं है। उन्होंने कल्याण के साधनों की विवेचना करतेहुए तीन प्रकार की आराधनायें बतलाई हैं—'तिविहा माराहणा पन्नत्ता, नाणाराहणा, दसणाराहणा, चरित्ताराहणा' यह प्राकृत भाषा है। थोड़ेमें इसका मतलब यही है कि ज्ञान, दर्शन और चरित्र इन तीन रत्नों की आराधना से कल्याण की अभिसिद्धि होती है।

कल्याण कैसे होगा

कल्याणका पहला साधन है, ज्ञान। भगवद्गीतामें कहा है—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

पवित्र से पवित्र और उत्तम से उत्तम ज्ञान के समान संसार में दूसरा कोईभी पदार्थ नहीं है। ज्ञान क्या है? साक्षरता को ही मैं सिर्फ ज्ञान नहीं मानता, वह तो ज्ञान का साधनमात्र है। ज्ञान तो वह है जिससे गुण-दोष की परख आती है, हेय-उपादेय की भावना जागृत होती है, हिताहित का बोध होता है। इसके लिए आज की शिक्षा-प्रणाली अधूरी है। उसमें त्याग, चरित्र और आत्म-विकास जैसे मूलभूत तत्त्वों को स्थान नहीं दियागया है। मुझे यह कहतेहुए खेद होता है कि जो ज्ञान आत्म-विकास का उज्ज्वल साधन था, आजकल उसे तुच्छ आजीविका का साधन बनादियागया है। आजीविका—पेट पालन तो एक अज्ञानी-अशिक्षित भी कर सकता है। आजीविका

केलिए ज्ञान की उद्दिष्टता नहीं, उसकी आवश्यकता तो आत्म-विकास और चरित्र-विकास के लिए है।

ज्ञान और विज्ञान

ज्ञान और विज्ञान में कोई बड़ा अन्तर नहीं। विज्ञान ज्ञान से परे नहीं है। विशिष्ट ज्ञान यानी अन्वेषण व खोजपूर्ण जो प्रायोगिक ज्ञान होता है, वही विज्ञान है। आज विज्ञान का सर्वत्र बोलबाला है। यद्यपि विज्ञान बुरा नहीं है, किन्तु उसका दुरुपयोग बुरा है। यह विचारणीय है कि उसका उपयोग कैसा होना चाहिए? आज उसका उपयोग विध्वंस के लिए किया जाता है तो यह कतई असह्य है।

स्वर्णिम इतिहास

ज्ञान के विषय में भारत का पिछला इतिहास स्वर्णिम रहा है। ज्ञान की विशेषता के द्वारा वह अन्य सब देशोंका गुरु माना जाता था। उस समय ज्ञान की कुंजी यहां के ऋषि-महर्षियों के हाथ में सुरक्षित रहती थी। वे बिना परीक्षा किये किसी को ज्ञान नहीं देते थे। जिसको वे ज्ञान का अधिकारी या योग्य समझते थे उसीको देते थे। इस विषयमें जैन इतिहास में वर्णित एक किस्सा बड़ा ही सुन्दर है। आचार्य भद्रबाहु के समय की बात है। उनके शिष्य स्थूलिभद्र उनके पास ज्ञानार्जन कररहे थे उन्होंने क्रमशः १० पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करलिया। एकदिन वे चमत्कार दिखाने की भावना से नियम निषिद्ध ज्ञान का प्रयोग

कर बैठे। आचार्य भद्रबाहु को पता चलते ही उन्होंने तुरन्त आगे पढ़ाना स्थगित कर दिया। मुनि स्थूलिभद्र ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए पुनः आगे पढ़ाने के लिए विनम्र प्रार्थना की। आचार्य भद्रबाहु ने उन्हें अयोग्य पात्र बतला कर आगे पढ़ाने से इन्कार कर दिया। यह दूसरी बात है आगे उन्होंने सारे संघकी प्रार्थना पर शर्त-बद्ध जो कुछ पढ़ाया। इस ऐतिहासिक किस्सेसे यही-साबित होता है कि हमारे ज्ञानके केन्द्र पूर्वज ऋषि-महर्षि योग्य पात्र को ही ज्ञान देते थे। उस समय एक दूसरी विशेषता यह भी थी कि ज्ञान का कोई विक्रय नहीं होता था। सरकारी व सामाजिक ऐसी परम्परायें थीं जिससे पढ़ानेवाले को अपनी आजीविकाकी कोई चिन्ता नहीं होती थी। आज ज्ञानका खुले आम विक्रय होरहा है। मैं मानता हूं—इसके कई कारण हैं, मैं उनसे अपरिचित नहीं हूं, किन्तु इससे यह प्रवृत्ति उचित तो नहीं मानी जा सकती।

ज्ञान का प्रयोग

ज्ञान का प्रयोग आज सही रूप में नहीं होरहा है। शास्त्रों में कहा है—

किं ताए पढिआए पय कोडिवी पलालभूयाए।
जह इत्ती वि न जाणं परस्स पीडा न कायव्वा॥

'कोटि कोटि पदों का यह ज्ञान निस्सार है जिससे कि इतना ही नहीं पहचाना जा सकता कि औरों को पीड़ा नहीं पहुंचानी

चाहिए। इसलिए वही ज्ञान, ज्ञान है जिससे जीवन विकसित, शुद्ध और उन्नत होता है। जिस ज्ञान से यह नहीं होता वह ज्ञान, ज्ञान नहीं, अज्ञान है। इसलिए ज्ञान का प्रयोग आत्म-निर्माण और आत्म-विकास के लिए होना चाहिए।

दर्शन-त्रिवेणी

आजके युग में दार्शनिक ज्ञान होना भी अत्यन्त आवश्यक है। संसार में आज पौर्वात्य दर्शन और पाश्चात्य दर्शन, ये दो धारायें विद्यमान हैं। आज जितना पौर्वात्य दर्शन का प्रचार नहीं उतना पाश्चात्य दर्शन का होरहा है। लोग पाश्चात्य दर्शन के सामने भारतीय दर्शन को कम मानने लगगये हैं। यह अनुचित हुआ है। पौर्वात्य दर्शन का केन्द्र प्रारम्भ से ही भारत रहा है और आजभी वही है। यहां प्रमुखतः वैदिक, बौद्ध और जैन ये तीन दर्शन मुख्य रहे हैं। बौद्ध दर्शन तो भारत से लुप्त प्रायः होगया था किन्तु आजकल उसका पुनः अध्ययन हो रहा है। वैदिक दर्शन यहां रहा और आजभी विद्यमान है। जैन दर्शन अपनी लड़खड़ाती अवस्था में भी अपनी विशेषताओं के कारण यहां टिका रहा और आजभी वह अपनी प्राचीन विशुद्ध विचार-धारा को लिए चलरहा है।

जैन-दर्शन

आज मैं इन तीनों दर्शनों में से जैन-दर्शन पर ही कुछ प्रकाश डालना चाहता हूं। इसका मतलब यह है कि संभवतः

जैनदर्शन के विषय में आपकी जानकारी कम है। वह आजकल की भाषा में उपलब्ध नहीं है। एक कारण यह भी है कि इसके विषय में लोगों की रुचि भी कम है। न जाने किस महामना ने "हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" इस प्रकार के अरुचिकर पद्य रचे। वे पद्य जैनदर्शन के प्रति लोगोंकी अरुचि को भड़काते रहे। लोग दूर रहे। जैन-दर्शन की अमूल्यसम्पत्ति से वे सर्वथा अपरिचित रहे। आज लोगोंमें अवश्य जैन-दर्शन के प्रति जिज्ञासा है। पश्चिमी भाषाओं में जैन-दर्शनकी अनेक टीकायें प्रकाशित हुई। आज के वैज्ञानिक भी जैन-दर्शन का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करते हैं। उसमें एक नई सूझ और नई जागृति पाते हैं।

जैन-दर्शन क्या है ? जैन-दर्शन एक आध्यात्मिक दर्शन है। दूसरे शब्दों में वह निवृत्तिप्रधान दर्शन है। 'जिन' से जैन शब्द बनता है। उसका मतलब है, आत्म-विजेता, वीतराग। "जयतीति जिनः"—जो आत्मविजयी है, वह जिन है। 'जिनो देवता यस्य स जैनः'—जिन जिनके उपास्य देव हैं, जो जिनके प्रवचनोंके अनुसार चलते हैं, वे जैन हैं। जैनधर्म वीतरागोंका धर्म है। वीतराग उसके प्रवर्तक है। उन्होंने प्रवचनों में जिन अमूल्य तत्त्वों की पूंजी हमें दी है वह संसार में सदा अमर रहेगी।

अनेकान्त दृष्टि

जैन-दर्शन में मुख्यतः विचार और आचार इन पहलुओं पर बल दियागया है। जहां विचारात्मक पहलूका प्रसंग आता है,

वहां जैन दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि का तत्त्व दिया है। अनेकान्त दृष्टि एक जीवित दृष्टि है। अनेकान्त दृष्टि सब प्रकार के विरोधों की गुत्थियां सुलझानेवाली दृष्टि है। इसका कहना है कि किसी पदार्थ को एकान्त दृष्टि से मत देखो। एकान्त दृष्टि आग्रह की जननी है। आग्रही व्यक्ति तत्त्व को समग्ररूपसे समझ नहीं सकता। इसलिए किसी तत्त्व को समझने के लिए अनेक दृष्टियों का प्रयोग करो। एक वस्तु के अनेक पहलू हो सकते हैं। उदाहरणतः—एक मंझले पुत्र को कोई पूछे—'तुम छोटे होया बड़े ? वह क्या कहे ? असमंजस में पड़जाता है। छोटा कैसे कहे, जब कि बड़ा भाई भी विद्यमान है। यकायक उसे एक रास्ता दिखाई दिया और उसने चट से कहदिया—मैं छोटा भी हूं और बड़ा भी।' पूछनेवाला इस नई सूझ से चकित हुए बिना नहीं रहेगा। एकाङ्गी दृष्टि से काम नहीं चल सकता। अपेक्षा दृष्टि ही व्यक्ति को सही रास्ता दिखला सकती है। यह सिद्धान्त संसारवर्ती छोटे-बड़े सभी तत्त्वों पर लागू होता है। प्रश्न उठते हैं—संसार सादि-सान्त है या अनादि-अनन्त ? इसपर कोई दर्शन सादि-सान्त कहेगा और कोई अनादि-अनन्त। किन्तु जैन-दर्शन अनेकान्त दृष्टि की महान् सूझ के कारण संसार को सादि-सान्त और अनादि-अनन्त दोनों बतायेगा। क्योंकि अपेक्षावाद के अनुसार जगत् न तो नित्य है और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य है। चूंकि संसार का चक्र सदा चलता रहता है इसके पदार्थत्व की अपेक्षा वह अनादि अनन्त है और उसकी

अवस्थाओं में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। अतएव वह सादि-सान्त है। इस प्रकार यह नियम सब तत्त्वों पर लागू होता है। अनाग्रह बुद्धि से खोजने पर ही वस्तु-तत्त्व मिलता है। आचार्यों ने कहा है—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।

अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

'गोपी दही से मक्खन निकालती है। मन्थन करते समय उसका एक हाथ आगे और एक हाथ पीछे रहता है। वह सोचे हाथों को आगे-पीछे करने से क्या है? आगे पीछे नहीं करूंगी, ऐसे ही मक्खन निकाल लूंगी। क्या वह इस प्रकार अपने दोनों हाथों को एक साथ कर मक्खन निकाल सकती है? उत्तर होगा नहीं। यही नियम तत्त्वों पर लागू होता है। तत्त्वों का सार हम तभी निकाल सकेंगे, जबकि हम एक ही तत्त्व का भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे परीक्षण कर सकेंगे। इस विषयको समझनेके लिए अनेक दार्शनिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनका गम्भीर अध्ययन, अपेक्षा दृष्टि को स्याद्वाद को समझने में अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है।

सन्दिग्धवाद नहीं

मैं यहां पर यहभी बताद् कि स्याद्वाद, संदिग्धवाद या संशयवाद नहीं है। अनेक जैनेतर विद्वानोंने इसको सही रूपमें न समझने के कारण बड़ा अनर्थ किया है। स्यात् का मतलब

कथंचित् यानी किसी दृष्टि से है। उसका सन्देह या संशय अर्थ करना तत्व का गला घोंटने के समान है।

समन्वय का प्रतीक

स्याद्वाद की महान शक्ति के द्वारा संसारभर के सारे झगड़ों को समाप्त कर सही रूप में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। स्याद्वाद समन्वय का सही पथ-प्रदर्शक है। उदाहरणतः—एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति, इसका जैन-दर्शन के साथ अच्छी तरह से समन्वय यानी जाति की अपेक्षा सब मनुष्यों में एकही स्वरूपवाली आत्मा विद्यमान है। इस दृष्टिसे जातिकी अपेक्षा को लेतेहुए संसार को एकात्मक ग्रहण किया जा सकता है। जैसे हम कहते हैं—'अमुक देश का किसान बड़ा सुखी है।' यहां किसान शब्द जातिवाचक है। अतः किसी एक व्यक्ति विशेष का ग्रहण न होकर इस शब्द से उस देश के सारे किसानों का ही ग्रहण होजाता है। इसके विपरीत जहां व्यक्तिवादी दृष्टि का सवाल आता है, वहां व्यक्तिशः प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न होने के कारण सब अलग-अलग हैं और तब उस अवस्था में व्यक्ति की अपेक्षा संसार को अनेकान्तात्मक भी ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार अन्यान्य विषयों में भी अनेकान्त दृष्टिका प्रयोग कर, हम समन्वयकी गतिको बहुत आगे बढ़ा सकते हैं।

अहिंसा दृष्टि

जहां आचारात्मक पहलू का प्रसंग आता है, वहां जैन दार्शनिकों ने अहिंसा की दृष्टि दी है। मैंने पहले ही कहा है—

आचार यानी अहिंसा के अभाव में कोटि पर्वों का ज्ञान होने परभी जीवन शून्य और बेकार है। अहिंसा की दृष्टि भगवान् महावीर ने दी है। ऐसे औरों ने भी अहिंसा का प्रतिपादन किया है किन्तु वे अहिंसा की उतनी गहरी तहमें नहीं घुसे जितने कि भगवान् महावीर घुसे। अहिंसा से मनुष्य कायर बनते हैं, भीरु बनते हैं, अहिंसाने वीरत्व का सर्वनाश करडाला, यह निरा भ्रम है। अहिंसा वीर पुरुषों का धर्म है। अहिंसा वीरत्व की जननी है। कायर पुरुष को अहिंसा के द्वार खटखटाने तक का अधिकार नहीं है। अहिंसा-शस्त्र की सुरक्षा में बिना रक्तपात किये भारत जैसा विशाल देश स्वतन्त्र हो जाता है। फिरभी कोई कह सकता है कि अहिंसा कायरता और भीरुताकी जननी है ?

अहिंसा क्या है ?

अहिंसा क्या है—मन, वाणी और कर्म, इन तीनों को विशुद्ध व पवित्र रखना, उनको कलुषित व अपवित्र न होने देना ही अहिंसा है। थोड़ेमें जहां हिंसा नहीं वही अहिंसा है। हिंसासे यह अभि-प्राय नहीं कि केवल प्राण-वियोजन करना, किन्तु अपनी दुष्प्रवृत्ति पूर्वक प्राण वियोजन करनेसे है। जितनी बुरी, कलुषित राग, द्वेष और स्वार्थमयी प्रवृत्ति है, वह हिंसा है। हिंसाको त्यागनेका और अहिंसा को अपनाने का मुख्य उद्देश्य आत्मकल्याण है। हिंसा करनेवाला किसी दूसरे का अहित नहीं करता बल्कि अपनी आत्मा का ही अहित करता है। भगवान् महावीर ने अहिंसा के दो विभाग बताये हैं—स्थूल और सूक्ष्म। 'मरेव वा मरणमरतु

युगान्तरेवा' के सिद्धान्त को अपनाकर जो मुमुक्षु चलनेवाले हैं उनके लिए मात्र हिंसा वर्जनीय है। इस चोटी की अहिंसा तक विरले ही पहुंचपाते हैं। अतः हिंसा को तीन विभागों में विभक्त किया गया है—आरम्भजा, विरोधजा और संकल्पजा। व्यापार, कृषि आदि जीवन की आवश्यक क्रियाओं में जो हिंसा होती है, वह आरम्भजा है। इसका त्याग सामाजिक प्राणी के लिए अति कठिन है। अपने समाज या राष्ट्र की रक्षा के लिए आक्रमणकारियोंके साथ लड़ाई की जाती है वह विरोधजा हिंसा कहलाती है। साधारण गृहस्थके लिए इसका परित्याग भी अत्यन्त दुष्कर है। तीसरी हिंसा है, संकल्पजा इसका मतलब है—निर-पराध प्राणी पर इरादेपूर्वक आक्रमण करना। इसी हत्याके कारण बड़े-बड़े नृशंस हत्याकांड हुए हैं। जातिवाद और साम्प्रदायिकता जैसे संकुचित विचार इसी हिंसाके कारण पनपे हैं और पनपते हैं। संकल्पपूर्वक हिंसा करनेवाला मानव, मानव नहीं, पशु है, कम से कम इस तीसरी हिंसासे तो मानवमात्रको अवश्य ही बचना चाहिये। इसप्रकार जैन-दर्शन के आचार और विचार इन दो सारगर्भित सिद्धान्तों का जितना चिन्तन, मनन और अनुशीलन किया जाता है उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त होता है। विचार और आचार के इतने विवेचनका मतलब यही है कि मनुष्य जहां विचार का निर्णय
कान्तवाद का अनुसरण करे
चाहे वहां अहिंसा का

मैं एकबात यहांपर और स्पष्ट करदूं कि अहिंसाका बलात्कार और प्रलोभन से कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ पैसे देकर या डंडे के बलपर आक्रान्ता को दूर किया जासकता है किन्तु जबतक हृदय-परिवर्तन नहीं होता तबतक अहिंसा कैसे हो सकती है? यह दूसरी बात है कि सामाजिक प्राणियों द्वारा किसी को बचाने के लिये ये तरीके काम में लियेजाते हैं। किन्तु उनके काम में लियेजानेमात्र से वे अहिंसात्मक तरीके तो नहीं कहला सकते। वास्तव में शिक्षा और उपदेश के द्वारा ही हृदय परिवर्तन किया जासकता है और जहां हृदय परिवर्तन है, वहां अहिंसा है।

प्राणीमात्र का धर्म

जैनधर्म में जातिवाद को लेकर कोई समस्या नहीं है। धर्म की व्याख्या ही उसने यही की है—

व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया, जाति-पांति का भेद मिटाया।
निर्धन धनिक न अन्तर पाया, जिसने धारा जन्म सुधारा॥

धर्म व्यक्तिनिष्ठ है, समष्टिगत नहीं। धर्मपर किसी जाति-समाज या राष्ट्र का अधिकार नहीं। यह सबका है। वह उसीका है जो उसकी आराधना करे। धर्म की मर्यादा में जाति, रंग, देश आदिका कोई भी भेदभाव नहीं हो सकता। मुझे खुशी होती है जब मैं ऐसा विचार करता हूं कि मैं धर्म को हर व्यक्ति, हर जाति और हर देश में फैलाऊं। जैनलोग यह न समझलें कि जैनधर्म तो उनका ही है। जैनधर्म वीतरागों का धर्म है। उसका

किसी एक जातिविशेष से सम्बन्ध हो नहीं सकता। यह प्राणीमात्रका है और प्राणीमात्र उसका अधिकारी है।

नकारात्मक दृष्टिकोण

जैनधर्म की एक और विशेषता है। यह है नकारात्मक दृष्टिकोण। यद्यपि जैन-दार्शनिकों ने विधानात्मक दृष्टिकोण को भी अपनाया है किन्तु अधिक बल नकारात्मक दृष्टिकोण पर दियागया है। इसमें रहस्य है। जितना नकारात्मक दृष्टिकोण व्यापक है, उतना विधानात्मक नहीं। जैसे-'मत मारो' यह सर्वथा निर्दोष, सफल और व्यापक है। 'बचाओ' यह अपने-आप में संदिग्ध है। 'बचाओ' कहते ही प्रश्न होगा-किस को और कैसे बचाया जाय? डरा-धमकाकर किसी को बचाने में पारस्परिक संघर्ष होना संभावित है। ऐसी अवस्था में 'बचाओ' दोषमुक्त और सफल नहीं कहा जासकता। संयुक्त-राष्ट्र, कोरिया को बचाने के लिये कोरिया में प्रविष्ट हुआ, उसका भयंकर परिणाम सबके सामने है। इसीप्रकार 'झूठ मत बोलो' इसमें कोई बाधा नहीं आती किन्तु 'सत्य बोलो' इसमें बाधा आती है। कहा भी है—'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" सत्य बोलो किन्तु वैसा सत्य नहीं जो अहितकर हो। एक शिकारी के पूछनेपर उसको मृग जाने का मार्ग बताना सत्य होतेहुये भी अहितकर और विनाशकर है। इसलिये नकारात्मक दृष्टिकोण जितना सफल हो सकता है, उतना विधानात्मक नहीं। यह समझना गलत होगा कि जैनधर्म

में विधानात्मक दृष्टिकोण को स्थान ही नहीं है। जैनधर्म में विधानात्मक दृष्टिकोणपर भी बल दियागया है। जैसे—मैत्री करो, बंधुता रखो आदि।

आत्म-विकास

आराधनाका दूसरा भेद बतलाया गया है—दर्शन-आराधना जिसे हम दूसरे शब्दों में श्रद्धा भी कह सकते हैं। श्रद्धा का मतलब है सच्चा विश्वास, आत्म-विश्वास। आत्म-विश्वास की आज कमी होरही है। यह क्यों? आत्म-विश्वास के अभाव में क्या मानव आगे बढ़ सकता है और सफलता पा सकता है? आत्म-विश्वास का होना अत्यावश्यक है।

चरित्र विकास

तीसरा भेद बताया है—चरित्र-आराधना। चरित्रका सबसे अधिक महत्त्व है। आज जगह-जगह चरित्र-सुधार की बड़ी-बड़ी बातें होती हैं। हँसी आती है जब चरित्रहीन व्यक्ति भी चरित्र का उपदेश देने लगते हैं! उन्हें सबसे पहले अपने जीवन को सुधारना चाहिये। अपनेआपको उठाना चाहिये। जब मैं लोगों को अपने सुधार को ताकपर रखकर औरों को सुधारने की बातें करते सुनाता हूं तो मेरे आगे महाराज श्रेणिक और महामुनि अनाथी का किस्सा नाचने लगता है। उद्यान में मगधसम्राट् महाराज बिम्बसार की मुनि अनाथी के दिव्य स्वरूपपर दृष्टि पड़ते ही वे उनकी ओर लोह-चुम्बक की तरह आकर्षित हो उठे। उन्होंने मुनिराज के निकट जाकर कहा—

"मुनि! मैं जानना चाहता हूं आपने इस भरी जवानी में दीक्षा क्यों ग्रहण की ?" मुनिराज ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया-'राजन्! मैं अनाथ था। इसलिये मैंने दीक्षा ग्रहण की है।' महाराज के खुशी का कोई पार नहीं रहा। उन्होंने तपाक से कहा—'अच्छा यह बात है तो आप मेरे साथ चलिये। मैं आपका नाथ बनता हूं। मेरे राज्य में किसीभी बात की कमी नहीं है। आपको सभी प्रकार:की सुख-सुविधायें प्राप्त होंगी।' मुनि मुस्कराये। उन्होंने सस्मित कहा—'राजन्! तुम स्वयं अनाथ हो तुम दूसरों के क्या नाथ बनोगे ?' महाराज की सारी खुशी उड़गई। उन्होंने कठोरतापूर्वक कहा—'मुनिवर आप सत्यभाषी हैं, आपको असत्य नहीं बोलना चाहिये। आप जानते नहीं, मैं एक प्रभूत-ऐश्वर्य-सम्पन्न साम्राज्य का नाथ हूं, मुझे अनाथ बताते आपको असत्य का दोष नहीं लगता ?' मुनिराज ने इस आक्षेप का उत्तर देतेहुये कहा 'राजन्! आप अनाथ और सनाथका भेद नहीं जानते इसीलिये आप मेरे कथन को मिथ्या समझ रहे हैं।' यह कहकर मुनिराजने राजा श्रेणिक के अन्तर नेत्रों पर चोट करते हुये कहा—'राजन्! आपको मालूम नहीं, आपके भीतर काम, मद, लोभादि कितने दुर्धर्ष और दुर्जय शत्रु छिपे बैठे हैं। आप उनको देखतेतक नहीं ? असली शत्रु तो वे ही हैं। इन्हें पराजित नहीं कर सकता वह नाथ कैसा ? वह तो स्वयं ही अनाथ है।' महाराज श्रेणिक मुनिराज के चरणों में नत-मस्तक होगये। उन्होंने सहर्ष स्वीकार

किया, 'महामुने! मैं अनाथ हूं, लाखों-करोड़ों मनुष्यों का नाथ होतेहुये भी मैं वास्तव में अनाथ ही हूं।' यही बात आज अधिकांश लोगों के है। चरित्र-हीनों के मुँह से चरित्र की बात शोभा नहीं देती।

सुधार का केन्द्र—अणुव्रती संघ

जिस देश का संदेश विश्व भर में गूंजता था, जिसके लिये यहांतक कहागया था कि 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' संसारभर के लोग यहांपर पैदा हुये आर्योंसे चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें। खेद! आज उसी देश को चरित्र की शिक्षा देने के लिये बाहर से 'डेलीगेटस्' आते हैं। चरित्र के उत्थान के लिये इधर में कई अहिंसात्मक क्रान्तियां हुईं। अणुव्रती संघ भी इसी ओर संकेत करता है। उसमें एकमात्र चरित्र की शिक्षा है। जीवन को कैसे उठाया जाये, इसकी सूची है। मूल अणुव्रत पांच हैं और उनका ही विस्तार कर ८४ नियम बनाये गये हैं। व्यापारियों के लिये एक नियम है—वे चोरबाजारी न करें। राज्य कर्मचारियों के लिये और शिक्षकों के लिये नियम है कि वे रिश्वत न लें। इसी प्रकार चिकित्सकों के लिये भी नियम हैं कि वे पैसा कमाने की दृष्टि से रोगी की चिकित्सा में अनुचित समय न लगायें। ये नियम किसके लिये आवश्यक नहीं हैं? धार्मिकता जाने दीजिये, कम से कम मानवता और नागरिकता के नाते ही आप इन्हें अपनाइये। इससे आपका, आपके समाज का और आपके

देश का भला होगा। उपस्थित शिक्षक लोगों से तो मैं जोर देकर कहूंगा, आप अणुव्रती संघ के नियमों को अपने जीवन में उतारें। आपके ऐसे करने से दो बातों का लाभ होगा। एकतो आपका अपना सुधार और दूसरे आपके संपर्क में आनेवाले छात्र-छात्राओं का सुधार। जबतक आप अपने सुधार को मुख्य रूप नहीं देंगे तबतक आपकी सुधारभरी शिक्षाओं का छात्र-छात्राओं पर कोई असर नहीं पड़ेगा। इसलिये पहला सुधार, अपना सुधार यानी व्यक्ति सुधार। समाज और राष्ट्र व्यक्तियोंसे ही तो बनते हैं, तब व्यक्ति सुधार होने से समाज और राष्ट्र का सुधार तो अपनेआप हो जायेगा। व्यक्ति-सुधार ही सब सुधारों का केन्द्र है।

उपसंहार

अन्त में मैं इन्हीं शब्दों के साथ आज का वक्तव्य समाप्त करता हूं कि यदि आप व्यक्ति सुधार के दृष्टिकोण को अपनाकर जीवन में कल्याण और जागृति का पावन-पुनीत प्रकाश फैलानेवाली ज्ञान, दर्शन और चरित्रात्मक त्रिवेणी की आराधना करेंगे तो निःसंदेह शिक्षक-समाज वास्तव में शिक्षक समाज बनकर, अपने हाथों में आई हुई देश की महान् एवं मूल्यवान् संपत्ति को सुरक्षित रखते हुए, उसको अधिक से अधिक विकसित कर अपना और दूसरों का सही अर्थ में भला कर सकेंगे।

[ता० २८-८-५३ को मारवाड़ टीचर्स यूनियन जोधपुर की ओर से आयोजित शिक्षक सम्मेलनके अवसर पर]

जीवन-विकास और विद्यार्थीगण

विद्यार्थी, समाज और देश के भावी कर्णधार हैं। आज मैं उनके बीच अपना धार्मिक-सन्देश देरहा हूं। बुजुर्गों-बुढ्ढों से इतनी आशा नहीं जितनी आपसे है। आप आशा के केन्द्र बिन्दु हैं। मुझे आपके बीचमें अपना सन्देश देते, हार्दिक प्रसन्नता होरही है।

विकास का मुख्य साधन—ज्ञान

आप जानते हैं, यह विद्यालय है। विद्यालय का मतलब उस स्थान से है जहां ज्ञानार्जन होता हो। ज्ञान का जीवन में सर्व प्रमुख स्थान है। शास्त्रों में बताया है :—

'पढमं नाणं तओदया एवं चिट्ठई सव्व संजए।
अन्नाणी किं काही किंवा नाहिय सेय पावगं ॥'

जीवन-विकासका सर्वप्रमुख साधन ज्ञान है और फिर क्रिया इसी उज्ज्वल क्रम पर समस्त साधकवर्ग ठहराहुआ है। जं

अज्ञानी होगा, वह क्या समझेगा, क्या श्रेय होता है और क्या प्रेय? क्या विकास होता है और क्या पतन? इसलिए जीवन को विकसित करने के लिए ज्ञान की सबसे अधिक आवश्यकता है। ज्ञान ही जीवन है, ज्ञान ही सार है, ज्ञान ही तत्त्व है और ज्ञान ही आत्म-निर्माण तथा आत्म-विकास का मुख्य साधन है।

प्रस्तुत शिक्षा-प्रणाली

मुझे कहने दीजिये, आजकल जो ज्ञान स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में दिया जारहा है, जो शिक्षा-पद्धति प्रस्तुत है, मुझे क्या, आज के बड़े-बड़े नेताओं और विशिष्ट विचारकों को भी उससे सन्तोष नहीं है। आम लोगों की आज यही आवाज है कि हमारी शिक्षा-पद्धति सर्वांग सुन्दर नहीं है। जिससे संस्कार शुद्ध, सुन्दर और परिष्कृत न बनें, जीवन संस्कारित न हो, उस शिक्षा-प्रणाली को सर्वांग सुन्दर कहाभी कैसे जासकता है? जबतक संस्कारों को शुद्ध, सुन्दर और परिष्कृत बनाने का शिक्षा पद्धति में कोई प्रयास नहीं किया जावेगा, तबतक देश की सर्वांगीण उन्नति होनी असंभव है। इसके साथ-साथ आजकल के ज्ञानार्जन का तरीका भी सुन्दर नहीं है। यह सब आज की अधूरी शिक्षा-प्रणाली का ही दोष है। प्रणालीगत दोष किसी एक संस्थाविशेष का नहीं, वह तो समस्त देशव्यापक संस्थाओं का ही है। किसी एक स्थान विशेष से इस दोष को दूर करना संभव नहीं। समस्त शिक्षा-प्रणाली का आमूलचूल परिवर्तन करने से ही इस दोष को दूर किया जासकता है।

अनाकर्षण क्यों ?

ज्ञान जीवन की मूलभूत पूंजी है। उसके अभाव में मनुष्य अपनेआपको खो बैठता है। आजकल भौतिक ज्ञान जरूर अभिमत है, दिलचस्पी के साथ उसका अर्जन कियाजाता है किन्तु मौलिक अध्यात्मनिष्ठ ज्ञान की ओर कोई आकर्षण नहीं। यह सोचनातक इष्ट नहीं कि मैं कौन हूं ? कहां से आया हूं ? कहां जाऊंगा ? मैं बौद्ध धर्मकी मान्यतानुसार अस्थायी—क्षणिक हूं या वैदिकधर्म की मान्यतानुसार—अच्छेद्य, अभेद्य, अक्लेद्य, सनातन-स्वरूपवाला स्थायी ? मरने के बाद भी जिन्दा रहूंगा या नहीं ? आज इन जीवन-विकासी शिक्षाओंका सर्वथा अभाव सा अनुभव होरहा है। जबतक इसप्रकार की मौलिक शिक्षा नहीं दी जायगी तबतक जीवनका संस्कारित होना बहुत मुश्किल है। इसके साथ-साथ यह भी सही है कि जबतक जीवन संस्कारित नहीं होगा तबतक ज्ञानार्जनका प्रयास भी सफल नहीं हो सकेगा।

भ्रामक उद्देश्य

आज ज्ञान का उद्देश्य गलत होरहा है। पुराने जमाने में लोग आत्म-विकास के लिए और अपनेआपको पहिचानने के लिए ज्ञानार्जन कियाकरते थे। आजीविका और भरण-पोषण जैसी तुच्छ क्रियाओं के लिए वे ज्ञानार्जन नहीं करते थे। पुराने जमाने में राजा-महाराजा और सम्राट् तक ज्ञानाभ्यास करते थे। किसलिए ? आजीविका के लिए ? नहीं। आजीविका का उनके

सामने कोई सवाल ही नहीं था। वे तो मात्र विद्वान बनने के लिए या दूसरे शब्दों में कहें तो अपना विकास और अपना उत्थान करने के लिए ज्ञानाभ्यास करते थे। महाराज कृष्ण, गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर आदि बड़े-बड़े राजा और महापुरुष बाल्यावस्था में ज्ञानाभ्यास के लिए गुरुकुलों में भेजे-गये थे। उनके ज्ञानाभ्यास का एक ही उद्देश्य था कि वे अपने-आपको समझें, विवेक को जागृत करें, हेय-उपादेय के तत्त्व को हृदयंगम करें और जो बातें जीवन को अमर्यादित, पतित और रसातल में पहुंचानेवाली हैं, उनसे सदा बचते रहें। जबतक ज्ञानार्जन का यह उद्देश्य नहीं बनेगा तबतक विद्यार्थीगण उन्नति और उत्थान कैसे कर सकेंगे ? मैं कहूंगा अध्यापकवर्ग विद्यार्थियों को ज्ञान का मूलभूत उद्देश्य समझायें।

ज्ञानमें कुछ न कुछ कमी है

यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि आज देश में अनेक विद्या-केन्द्र होतेहुए भी लोगों की पिपासा शान्त नहीं है। प्रतिवर्ष सहस्रों विद्यार्थी बड़ी-बड़ी डिग्रियां प्राप्तकर शिक्षण-संस्थाओं से बाहर निकलते हैं, प्रतिवर्ष अनेकों शिक्षण-संस्थाओं का नव-निर्माण होता है, फिरभी चारों ओरसे यही आवाज आरही है कि आज देश का पतन होरहा है, नैतिकता और मानवता का गला घोंटा जारहा है। यह क्या है ? क्या यह गलत है, गलत तो हो कैसे सकता है ? जबकि यह आवाज एक

या दो की नहीं, सब लोगों की है ? वास्तव में इस आवाज को आज गलत नहीं बताया जासकता। यह क्यों ? जो ज्ञान जीवन को बनानेवाला है, यदि उससे जीवन नहीं बनता है तो फिर वह ज्ञान कहां रहा ? आजतो यहभी कहा जा सकता है कि ज्ञान के पीछे एक 'वि' और लगगया है, इसलिए आज ज्ञान साधारण न रहकर विशिष्ट बनगया है। वह है 'विज्ञान'। विज्ञान आज अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ है। फिरभी क्या कारण है कि जीवन, पंगु और कुंठित बनाहुआ है। अवश्य कहीं आज के ज्ञानमें त्रुटि है, उसमें कुछ न कुछ कमी है।

निर्जल अन्न हानिकारक

विचार करने से यह पता चलता है कि ज्ञान के साथ जो दूसरी वस्तु चाहिए, उसका अभाव है। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि पढ़ना नहीं चाहिए, वरन् यह है कि अन्न खाना तभी कार्यकर होता है जबकि पास में पीने के लिए जल भी विद्यमान हो। जलके अभाव में अन्न खाना अत्यन्त हानिकारक और अनुतापकारक होता है। हां, अन्न यदि चार दिन भी न खाये तो काम चल सकता है, किन्तु जल के अभाव में केवल अन्न से एक दिन भी निकालना मुश्किल है। यही मैं कहना चाहता हूं कि आज विद्या की कोई कमी नहीं है किन्तु उसके साथ, अन्न के साथ, जलकी तरह जो दूसरी वस्तु चाहिए उसका अभाव है। आप जानना चाहें यह दूसरी वस्तु क्या है ? वह है चरित्र !

आप विचारकर देखिए—आज जितनी ही विद्या की प्रगति हुई है, उतनी ही चरित्र की अवनति। और चरित्र की अवनति के कारण ही आज प्रत्येक क्षेत्र में समस्याओं, बाधाओं और उलझनों की भरमार है। इसलिए ज्ञान के साथ चरित्र का होना परमावश्यक है। तबही ज्ञान का उपयोग सदुपयोग कहलायेगा। अन्यथा बिना चरित्र का ज्ञान किसी काम का नहीं! उससे समस्यायें सुलझेंगी नहीं बल्कि और अधिक खड़ी होंगी। ज्ञान और सदाचार परस्पर एक दूसरे के पोषक हैं। इस दृष्टिकोण पर सब ध्यानपूर्वक विचार करें।

एक चक्के से गाड़ी नहीं चल सकती

आप जानते हैं और आपने संभवतः सुना भी होगा कि राजा रावण कितना बड़ा पंडित था! उसके पास ज्ञान की कोई कमी नहीं थी। किन्तु जब वह दुश्चरित्री बनगया, चरित्रहीन बनगया तब उसे राम और लक्ष्मण के हाथों कुत्ते की मौत मरना पड़ा। विद्यार्थी लोग समझें, आचारभ्रष्ट रावण के किस्से से यह सबक लें कि आचारशून्य केवल विद्या, विद्वता किसी काम की नहीं। जीवन आचारी होना चाहिये, आचारी जीवन में यदि विद्या की कमी हो तो वह क्षम्य है। बुजुर्गों का उदाहरण लें, उन वृद्ध माताओं का उदाहरण लें, जो अधिक कुछ नहीं जानती थीं, फिरभी उनका चारित्रिक वातावरण इतना व्यापक और मजबूत था जिसके कारण उनके [illegible] जीवन

उनकी सन्तानों पर वास्तविक प्रतिबिम्ब पड़ता था। मैं आजके माता-पिता और अध्यापकों पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं करता और न मैं उन्हें हतोत्साह ही करना चाहता हूं सिर्फ मैं तो यही बताना चाहता हूं-गाड़ी एक चक्के से नहीं चलाकरती, दो चक्केवाली गाड़ी ही अपने अभिष्ट स्थानपर पहुंच सकती है। इसलिये विद्यार्थियों में ज्ञान और चरित्र दोनों की ही आवश्यकता है। दोनों मिलकर ही जीवनको विकसित, सफल और संस्कारित बना सकते हैं।

'सत्य'—अखण्ड सदाचार का प्रतीक

चरित्र से यही मतलब है कि सवेरे से लेकर रात को लेटने-तक आपकी कोई क्रिया ऐसी न हो, जो किसीके लिये घातक और अनिष्टकर हो। वास्तव में इस प्रवृत्ति को निभानेवाला व्यक्ति ही सदाचारी कहलाने का अधिकारी है। अन्यथा वह सदाचारी नहीं, दुराचारी है। सदाचार यदि आप सीखना चाहते हैं तो उसके लिये आपको अधिक परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं। बहुत कम बातों को सीखने से ही उसको आप आत्मसात् कर सकते हैं। न उसके लिये बीस, चालीस या पचास पुस्तकें पढ़ने की आवश्यकता है ? और न कुछ पैसे खर्च करने की ही। मैं आपको और कुछ न बताकर सदाचारी बनने के लिये मात्र एकही उपाय बताऊंगा वह है—सत्य। आप सत्यवादी बनिये, झूठ को हलाहल विष समझकर उससे परहेज

रखिये। सत्य में सदाचार का अखंड स्वरूप समायाहुआ है, उसका कोईभी अंश सत्य की सीमा से बाहर नहीं है। आप इस पद्य को याद रखिये—

'सत्य से बढ़कर जगत् में कौन सत्पथ और है,
और सब पगडंडियां यह राजपथ की डोर है।
सत्य ही भगवान्, श्री भगवान् यों फरमा रहे
सत्य के गुणगान भी भगवान् मुख से गारहे ।।
सत्य की महिमा जिनागममें भरी पुरजोर है ।।

सत्य कोई छोटी-मोटी पगडंडी नहीं है, यह वह राजपथ है जिसपर आप आत्म-विश्वास के साथ बढ़ते चलेजाइये। आपके बीच में कोई रुकावट, बाधा या मुसीबत नहीं आयेगी और आयेगी तो आपके सत्य-बल, आत्म-बल के सामने वह टिक नहीं सकेगी—हार जायेगी और अन्त में आपको वह आत्म-समर्पण करदेगी। सत्य से बढ़कर वह कौन वस्तु जगत् में होगी जबकि स्वयं भगवान् अपने मुख से सत्य को भगवान् कहकर सम्बोधित कररहे हैं, 'सच्चं भयवं'—यह शास्त्र-वाक्य इसीपर प्रकाश डालरहा है। विद्यार्थियों! आप यदि यह प्रतिज्ञा करलें, हम सत्य ही बोलेंगे, झूठ को कभी प्रश्रय नहीं देंगे, तो निश्चित समझिये आपका जीवन सफल है और आपका भविष्य स्वर्णिम है। हां, यह मैं जानता हूं कि ऐसा करने में, आपके सामने एक बड़ी बाधा है। उसको भी मैं स्पष्ट कर देताहूं। वह यह है कि आप सोचते होंगे आज सत्य की

महिमा सर्वत्र गाईजाती है—गुरुजन और शिक्षक-जन सब सत्य के लिए पूरा-पूरा बल देते हैं। किन्तु हम अपने घरपर झूठ ही झूठ का वातावरण देखते हैं और सुनते हैं। किसकी मानें ? किसकी बात अच्छी है और किसकी झूठ ? यहांपर मैं आपको यही सलाह दूंगा कि चाहे घर का वातावरण कुछ भी हो और चाहे समूची दुनिया का बहाव भी किधर ही हो, आप यह दृढ़ निश्चय कर लीजिये कि हमतो सत्यपर ही डटे रहेंगे। सत्य को हम अपना जीवन समझेंगे, सर्वस्व समझेंगे। चाहे आपमें और हजार दुर्गुण हों, यदि आप सत्यनिष्ठ हैं तो मुझे उनकी कोई चिन्ता नहीं। आप कहें कि क्या कभी ऐसा हो सकता है ? मैं कहता हूं, क्यों नहीं ? आप उस लड़केका उदाहरण याद कीजिये—जो दुनिया के समस्त दुर्गुणों और दुर्व्यसनों का शिकार था। मां-बाप का इकलौता पुत्र था। घरमें पैसे की कमी न थी। प्यार ही प्यार में लड़का बिगड़गया, बदमाश होगया। पिता की जब आंखें खुली तो उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। मगर अब क्या हो सकता था ? उसने पुत्रको समझाने के लिए अनेक उपाय किये किन्तु पुत्रपर उनका कोई असर नहीं हुआ। संयोगवश (ए)कदिन उस शहर में एक मुनिराज आये। उनका प्रवचन (हु)आ। प्रवचन में उस लड़के का पिता भी उपस्थित था। (उ)सने विचार किया—ये मुनिराज ठीक हैं। इनके पास लड़के को (भे)जना चाहिए। पिता ने ऐसा ही किया। लड़का मुनिराज के (पा)स आया। मुनिराज ने लड़के को उपदेश देना प्रारम्भ किया।

साधु-सन्त वास्तव में बड़े प्रभावोत्पादक होते हैं। उनकी गम्भीर बात का तो क्या मामूली बात का भी बड़ा असर होता है। यह क्यों? इसमें यही रहस्य है कि वे जो बातें कहते हैं, वे सब उनके जीवन में उतरी हुई होती हैं। यही कारण है उनके साधारण प्रवचन का भी आशातीत प्रभाव पड़ता है। एक बात और है कि मेरा यह एकान्त निश्चल अभिमत है कि यदि किसी को सन्मार्गपर लाना है तो उसे उपदेश द्वारा हृदय परिवर्तन करके ही लाया जासकता है। इसी महान् सिद्धान्तपर गांधीजी ने देश को आजाद कराया। डण्डे के बलपर और प्रलोभन द्वारा किसी स्थायी सुधार की सम्भावना नहीं की जासकती। जैनधर्म का यही महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। मुनिराज ने यही किया। उन्होंने शिक्षा द्वारा बालक का हृदय-परिवर्तन करना चाहा। मुनिराज ने पूछा—'बालक! तुम चोरी करते हो?' बालक—हां महाराज! मुनिराज ने फिर पूछा—'और क्या करते हो?' बालक ने कहा—'क्या पूछते हो महाराज! दुनिया के जितने दुर्गुण हैं मेरे में वे सब हैं।' तदन्तर दुर्व्यसनों के दुष्फलों पर विस्तृत प्रकाश डालतेहुए मार्मिक उपदेश फरमाया और बालक से अनुरोध किया कि 'बालक! तुम अपने अमूल्य जीवन को दुर्गुणों के कीचड़ में फँसाकर व्यर्थ क्यों खोरहे हो! तुम्हें आज से ही प्रतिदिन एक-एक दुर्गुण छोड़नेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिए।' बालक ने नम्रतापूर्वक कहा—'महाराज! आप जो कहते हैं यह मैं अच्छी तरह से जानता हूं, किन्तु मजबूर हूं।

दुर्गुणों से पृथक् नहीं कर सकता। दुर्गुण मेरे जीवनकी प्राकृतिक-क्रियायें बनगई हैं, उन्हें मैं छोड़ नहीं सकता। हां, यदि आप इनके अलावा और किसी दूसरी बात के लिए कहें तो मैं उसको सहर्ष स्वीकार करूंगा।' मुनिराज ने उसको सत्यव्रत अपनाने के लिए कहा। बालक एकबार तो चौंका। वचन का पक्का था। उसने उसी समय झूठ बोलने का परित्याग करदिया। बालक अब बन्धन में आगया। दूसरे ही दिन जब वह प्रहर रात्रि बीतते ही घरमें आया तो उसके पिता सहसा पूछ ही बैठे—'पुत्र! कहां से आया है?' बालक बड़ी मुसीबत में पड़ा। क्या करे? झूठ बोलना नहीं। सच कहे तो भी कैसे कहे? पिता अकेले तो थे नहीं, उनके पास शहरके अनेक—नागरिक बैठे थे। दो क्षण तक वह टालमटोल करता रहा, किन्तु पिता आखिर कब छोड़नेवाले थे। आखिर उसको लज्जापूर्वक कहना ही पड़ा—'पिताजी! मदिरालय से मदिरा पीकर आरहा हूं' यह सुनते ही वहांपर बैठेहुए समस्त लोग उसके प्रति नाना-प्रकार से घृणा प्रकट करने लगे। बालक को बड़ी शर्म आई। उसने उसी समय सर्वदा के लिए मदिरा न पीने की प्रतिज्ञा करली। अगले दिन फिर उसी समय घरमें आते ही पिता ने पूछा—'पुत्र! कहां से आरहे हो?' बालक को बड़ी झुंझलाहट हुई। वह सोचने लगा। मुझसे ये बार-बार क्यों पूछते हैं? मैं जहां चाहूं वहां जाऊं, जब चाहूं तब आऊं। इनको इनसे क्या मतलब? किन्तु आखिर पिता की दृढ़ता के सामने झुकना ही पड़ा। उसने

टूटते हुए स्वरों में कहा—'पिताजी !... . वेश्या......गृह से आ ......रहा......हूं......। यह सुनते ही वहांपर बैठे हुए तमाम लोग अपना मुंह फेरकर छि-छि-छि करउठे। बालक तो मानों जमीन में गड़गया। उसके ग्लानिका कोई पार नहीं रहा। उसने उसीसमय आगेसे वेश्यागृह जाने का परित्याग करदिया। इसप्रकार एक महीने के भीतर-भीतर उसके सारे दुर्व्यसन छूटगये। विद्यार्थियों! विचारो, यह किस बात का प्रभाव था ? इसलिए मैं आपको यही सलाह दूंगा कि आप यह दृढ़ निश्चय करलें कि हमें कभी झूठ नहीं बोलना है। हमेंतो सिर्फ पढ़ना है। जीवन ज्ञान-अर्जन में लगाना है। फिर आप देखेंगे कि आप में चरित्र कैसे आजाता है और यह कहां जायेगा ? जहां सत्य-निष्ठा होगी, वहां चरित्र अपनेआप आयेगा। ऐसा कर आप अपना ही सुधार नहीं करेंगे बल्कि अपने कुटुम्ब का, समाज और राष्ट्र का कायाकल्प कर देंगे।

ब्रह्मचर्य की कमी क्यों ?

आचार की एक प्रमुख वस्तुपर मुझे और संकेत करना है। वह है—ब्रह्मचर्य। आप जानते हैं आपका जीवन एक साधना का जीवन है। किन्तु विस्मय होता है, जब मैं यह सुनता हूं कि आजके विद्यार्थी-समाज में ब्रह्मचर्य की भयंकर कमी है। वे आज अप्राकृतिक-क्रियाओं में पड़कर अपने देव-दुर्लभ मानव-जीवन को मिट्टी में मिलारहे हैं। हास्य-कुतूहल में पड़कर वे

अपनी आदतों को बिगाड़ रहे हैं। आज इनका नष्ट-भ्रष्ट जीवन देखकर किसे तरस नहीं आता? मैं आपको जोर देकर कहूंगा- आप विद्यार्थी-जीवन को साधना का जीवन समझें। यह सोचें कि हमें इस साधना-काल में ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करनी है। पूर्ण साधना के लिये यह आवश्यक है कि आप खाद्य-संयम करें, दृष्टि-संयम करें, वाक्-संयम करें और अश्लील साहित्य, अश्लील संगीत तथा अश्लील सिनेमा से लाखों हाथ दूर रहें। इस विषय में अध्यापकों का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे विद्यार्थीयों का पूरा ध्यान रखें। उनको बुराइयों में न फँसने दें। आज वह पुराना युग नहीं जबकि बड़े-बड़े नौजवान भी अश्लील बातों को समझने तक नहीं थे। आजके छोटे-छोटे बच्चे भी बड़ों-बड़ों की आंखों में सफलतापूर्वक धूल झोंक सकते हैं। इसलिये अध्यापकों से मैं यही आशा करूंगा कि वे अपने हाथों में आईहुई इस महान् संपत्ति का सही अर्थ में निर्माण करेंगे। केवल वाचिक और पुस्तकीय शिक्षा से नहीं वरन् अपने जीवन के सक्रिय आदर्शों के द्वारा उनके सामने सक्रिय-शिक्षा प्रस्तुत करेंगे।

उत्तरदायित्व

यह सही है कि शिक्षकों के पास विद्यार्थी दो-चार घंटे ही रहते हैं, शेष समय उनका अभिभावकों के निकट ही बीतता है। जो अभिभावक दुर्व्यसनी हैं, वे अपनी सन्तान को न चाहते हुये भी बिगाड़रहे हैं। अभिभावकों व शिक्षकों का जीवन

जितना उन्नत और विकसित होगा विद्यार्थियोंपर उसका उतना ही अधिक असर पड़ेगा और तब उनका जीवन उन्नत, विकसित और संस्कारित बननेमें किसी प्रकार की असंभावना नहीं रहेगी। शिक्षकवर्ग और अभिभावकजन अपना उत्तरदायित्व समझें।

उपसंहार

अन्त में मैं सबसे यही कहूंगा कि आज जो ज्ञान के साथ चरित्र की कमी होरही है, ज्ञान अपंग होरहा है, सदोष होरहा है, उसपर अविलम्ब ध्यान दें। ज्ञान की इस कमी को दूर कर, यदि विद्यार्थीगण कमर कसकर खड़े हों तो आज चारों और 'पतन' 'पतन' की आनेवाली आवाज का मुखभंजन कर सकेंगे और इसके साथ-साथ वे देश में चरित्र का पुनर्गठन कर अपना और दूसरों का बहुत बड़ा हित-साधन भी कर सकेंगे।

ता० २६-८-५१
उम्मेद हाई स्कूल, जोधपुर

साहित्य-साधना का लक्ष्य

साहित्य का लक्ष्य मनोविनोद अथवा आमोद-प्रमोद नहीं। उसका सही लक्ष्य है— आत्मसाधना की ज्योति से भास्वत्य-मान वाणी द्वारा जन-जन को प्रकाश देना, जागृत करना।

साहित्यकार युग-स्रष्टा है उसका जीवन बलिदान और साधना का जीवन है। उसपर गम्भीर उत्तरदायित्व है। शोषण, विषमता, अत्याचार और जुल्मों की दुनिया को शान्ति, समता और मैत्री के वातावरण से उसे मांजना है।

उसका मार्ग सरल नहीं है, कांटों का मार्ग है। आलोचना और निन्दा की पर्वाह न करतेहुए जीवन-शुद्धि के राजमार्ग पर उसे जनता को लेजाना है। स्वार्थपरता, भोगलिप्सा और आडम्बरके विषैले वातावरणसे आकुल लोक-जीवनमें निःस्वार्थता, त्याग और सादगी का अमृत ढालना है। तभी उसका कृतित्व साधना और सृजन सफल है।

[ता० ३०-८ ५३ को प्रेरणा-संस्थान, जोधपुर की ओर से आयोजित साहित्य-गोष्ठी के अवसर पर]

सफलता का मार्ग और छात्र-जीवन

उपस्थित विद्यार्थियो एवं अध्यापको !

मुझे प्रसन्नता है कि मैं आज आपके बीचमें अपना धार्मिक सन्देश देरहा हूं। मेरे जीवनका यह प्रमुख विषय रहा है। या यों समझ लीजिये—विद्यार्थियोंके बीच कामकरना मेरा स्वाभाविक विषय है। जैसाकि पूर्व वक्ता Students Association के अध्यक्ष) श्री जोरावरमल बोहरा ने बताया मैं जब १३-१४ वर्ष का था तबसे विद्यार्थियोंकी देखरेख रखनी प्रारम्भ करदी थी। इस कालिजमें यह पहला ही मौका है। इससे पूर्व भारतवर्षके अनेक शिक्षा-केन्द्रोंसे मेरा सम्बन्ध हुआ है। मैं विद्यार्थियोंके बीच गया हूं, उनका अध्ययन किया है। वे क्या चाहते हैं ? उनकी क्या समस्याएं हैं ? और उनके लिए क्या आवश्यक है ? इन बातोंका मैंने गंभीरतापूर्वक चिन्तन और मनन किया है और समय-समय पर करता भी रहता हूं।

जीवन का उद्देश्य

आजका युग विकास का युग है। चारों ओर विकासके नये-नये सूत्र सुननेमें आरहे हैं। मौलिक विकास आवश्यक है

और वह होना ही चाहिए। आपभी अपना विकास चाहते हैं वह ठीक है, किन्तु इसके पहले तनिक यहभी सोचना चाहिये कि आखिर मानव जीवन का उद्देश्य क्या है ? जीवन का उद्देश्य यही नहीं है कि सुख सुविधापूर्वक जिन्दगी बितायीजाय, शोषण अन्यायसे धन पैदा कियाजाय, बड़ी-बड़ी भव्य अट्टालिकायें बनाई जायं और भौतिक साधनों का यथेष्ट उपभोग किया जाय। ऐसे अधूरे और अपूर्ण उद्देश्य को भारतीय संस्कृतिमें कोई स्थान नहीं। यह जीवन का उद्देश्य नहीं बल्कि जीवन के लिए अभिशाप है। भारतीय संस्कृतिमें मानव-जीवन का उद्देश्य कुछ और ही बताया गया है। उसकी दृष्टि में बाह्य सुख-सुविधाओं के लिए छीना-झपटी करना कोई महत्त्व नहीं रखता। वह आन्तरिक सुख-सुविधाओं को पाने के लिए संकेत करती है। वह बताती है—मानव का उद्देश्य, विकास की चरम सीमा—परमात्मपद तक पहुंचना है।

पंडित नहीं, शिक्षित बनिये

यदि आपको इस उद्देश्यतक पहुंचना है तो मैं आपसे कहूंगा—आप पंडित नहीं शिक्षित बनिये। आप चौंके नहीं पण्डित और शिक्षित में बड़ा अन्तर होता है। पण्डित उसको कहते हैं जो विद्वान् है, पढ़ाहुआ है। किन्तु शिक्षित का अर्थ कुछ और ही होता है। शिक्षित बनने के लिए सबसे पहले आप द्रष्टा बनिये। शास्त्रों में कहा है—'उद्देसो पासगस्स नत्थि'—जो

द्रष्टा बनगया उसके लिए फिर उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं। जबतक द्रष्टा बननेमें अधूरापन है तबतक ही उपदेश—शिक्षा आदि की आवश्यकता होती है। संभवतः आप पूछना चाहते हैं 'द्रष्टा' से क्या मतलब है ? सबके दो-दो आंखें हैं। सब देखते हैं। नजदीक ही नहीं दूर-दूरतक का ज्ञान करते हैं। न हमसे आकाश ही छिपा है और समुद्रतल ही। सूक्ष्मता और विप्रकृष्टता का व्यवधान आज हमें देखने में कोई अड़चन पैदा नहीं करसकता, मैं मानता हूं आपकी यह विचारधारा आपके दृष्टिकोण से ठीक है। किन्तु मेरे द्वारा प्रयुक्त 'द्रष्टा' शब्द की परिभाषा इससे सर्वथा विपरीत है। वह है 'अपने-आपको देखना'। जो अपनेआपको देखलेता है उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता। इसलिए द्रष्टा वही कहलाता है जो अपनेआपको देखे। दूर-दूर की वस्तु दूरबीन जैसे सूक्ष्मयन्त्र द्वारा देखी जासकती है किन्तु शक्ल नहीं, यदि आप अपनी शक्ल देखना चाहेंगे तो आपको अपने हाथमें दर्पण लेना पड़ेगा।

बन्धनों को तोड़िये

जो जैसा नहीं है उसको वैसा मानना अज्ञान है। भारतीय संस्कृति बताती है—

देहोय मितीय बुद्धिरविद्येति प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥

यह खयाल—जो शरीर है, वही मैं हूं, यह अविद्या अज्ञानका परिणाम है। मैं शरीर नहीं, मैं उससे भिन्न

अभ्यास नहीं वह अपनी मंजिल से बहुत दूर और बहुत नीचे है। मुझे सखेद कहना पड़ता है कि आज शिक्षार्थियों में भी शिक्षा यानी संयम की साधना का बहुत बड़ा अभाव है। यही कारण है कि आज शिक्षार्थी समाज में तरह-तरह के अनर्थ अपने डेरे डालेहुये हैं।

शिक्षाका पात्र कौन ?

शिक्षाका स्वरूप कैसा हो और शिक्षाके योग्य कौन व्यक्ति होता है ? इस पर प्रकाश डालते हुए शास्त्रोंमें आठ कारण बतलाये गये हैं :—

> *अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीलेति वुच्चई*
> *अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्म मुदा हरे*
> *न सीले न विसीले न सिया अइ लोलुए*
> *अकोहणे सच्चरए सिक्खा सीलेति वुच्चई*

शिक्षा प्राप्त करनेके योग्य वही होता है जो सदा हास्य कुतूहलसे दूर रहता है। हास्य कुतूहल करनेवाला शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। इसी तरह जो इन्द्रियों और मन पर काबू रखता है, ब्रह्मचर्यका सेवन और इन्द्रियोंका दमन करता है वह शिक्षाके योग्य होता है। जिह्वास्वादी और चक्षुगृद्धी कदापि शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। जो किसीके मर्मका उद्घाटन नहीं करता वह शिक्षाके योग्य है। मर्मभेदी वचन कहनेवाला दूसरे के अन्तःकरणको जला डालता है। वह शिक्षाके योग्य नहीं।

इसी प्रकार शिक्षाके योग्य वही होता है जो सदाचारी है जिसका आचार खंडित नहीं हुआ है, रसोंमें जिसकी गृद्धि नहीं है, जो अक्रोधी, क्षमायुक्त और सत्य भाषण करनेवाला है। सारांश यही है कि शिक्षा ग्रहण करते समय जिनकी संयममें दृढ़ निष्ठा नहीं रहती वे न तो शिक्षा ही पा सकते हैं और न शिक्षित ही कहला सकते हैं। सही बात यह है कि आजके विद्यार्थियोंमें संयमकी बड़ी अवहेलना हो रही है। विशेष कर मानसिक संयम तो उनका आज बिल्कुल गिरा हुआ सा प्रतीत होता है। आए दिन परीक्षामें अनुत्तीर्ण कितने विद्यार्थी आत्म-हत्या कर क्या मौतके घाट नहीं उतरते हैं? यह क्या है? क्या परीक्षामें उत्तीर्ण होना ही सब कुछ है। परीक्षामें उत्तीर्ण हो या न हो किन्तु जो पढ़ा है वह तो कहीं नहीं गया। पढ़नेका सार तब ही है जबकि वह स्वयं संयमकी साधना करता हुआ समाज और देशमें संयमका प्रसार करे, व्यक्ति-व्यक्तिमें संयमकी पावन-पुनीत भावनाको जागृत करे।

ब्रह्मचर्य ही जीवन है।

ब्रह्मचर्य साधनाकी विद्यार्थी-जीवनमें बहुत बड़ी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य ही जीवन है इसको आप न भूलें। ब्रह्मचर्यको खोकर यथेष्ट उन्नति और विकास करना सम्भव नहीं। वह पढ़ना किस कामका जिससे ब्रह्मचर्यका विकास न होकर उसका ह्रास हो। मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप विद्यार्थी-जीवन

को एक साधनाका जीवन समझकर उसमें ब्रह्मचर्यकी पूर्ण साधना करें। सदा जागरूक रहें और यह विचार करें कि वे कौन-कौन से कारण हैं जो अब्रह्मचर्यकी ओर ढकेलते हैं। उन कारणोंको खोजकर उनका निर्मूलन करें। उन व्यक्तियोंकी संगति न करें, वैसा साहित्य न पढ़ें, जो जीवनको ब्रह्मचर्यसे हटाकर अब्रह्मचर्य की ओर ले जानेवाला हो।

जीवनकी शिक्षा

पढ़नेके बाद भी जिसमें संयमकी साधना नहीं है, हेय-उपादेयका ज्ञान नहीं है, लाज्य-माह्यका विवेक नहीं है वे पठित भी निरे अज्ञानी हैं। ज्ञानके साथ जिनमें शिक्षा नहीं है, वे परमार्थ में तो क्या व्यवहारमें भी सफल नहीं हो सकते। वे केवल जाननेके लिये जानते हैं, किन्तु वे यह नहीं समझते कि जाननेका प्रयोग कैसे करना चाहिये ? मुझे वह घटना याद आ रही है जिसमें कि एक पढ़े-लिखे इञ्जीनियरने अपने ज्ञानका कितना हास्यास्पद प्रयोग किया। एक इञ्जीनियर किसी काफिलेके साथ चल रहे थे। जंगलका मार्ग था। आगे चलकर रास्तेमें चारों ओर पानी आ गया। काफिलेके गाड़े रुक गये। लोगोंने इञ्जीनियरसे सलाह मांगी। इञ्जीनियर साहब फौरन एक कागज और पेंसिल लेकर आगे आये। एक आदमीको जल मापनेके लिये कहा। जल मापा गया। कहीं एक दो हाथ था और कहीं पांच-सात हाथ। इञ्जीनियरने कागज पर नोट कर सारा औसत

मिला लिया। औसत ठीक था उसमें गाड़ेके डूबने जैसी कोई बात नहीं थी। फिर क्या था? इञ्जीनियरने तुरन्त गाड़ोंको जल में उतारनेकी सलाह दी। आगेवाले गाड़ेमें बच्चोंका झुंड था। ज्योंही वह गाड़ा कुछ गहरे पानीमें पहुंचा कि जलमें डूबने लगा। लोगोंमें भगदड़ मच गई। वे तुरन्त इञ्जीनियरके पास दौड़े आये और बोले—"इञ्जीनियर साहब! आपने यह क्या किया? सारे बाल-बच्चे डूबे जा रहे हैं।" इञ्जीनियरने तुरन्त अपना कागज निकाला और दुबारा औसत मिलाया। औसत ठीक निकला। बड़े गर्वके साथ उन्होंने कहा—'लेखा-जोखा ज्यों का त्यों, छोरा-छोरी डूबे क्यों? भाई मेरा तो कोई दोष नहीं है, देखलो, यह लेखा-जोखा तुम्हारे सामने है। समझमें नहीं आता औसत ठीक होने पर भी छोकरे-छोकरी क्यों डूबे जा रहे हैं? कहनेका तात्पर्य यही है कि जो जीवन शिक्षा प्राप्त नहीं करते, वे कहीं भी सफल नहीं होते। वे अपने साथ-साथ औरोंको भी मुसीबतोंमें फंसा देते हैं। बड़े-बड़े अनर्थ कर बैठते हैं।

संयम का माध्यम—अणुव्रत

यदि आपको वास्तवमें शिक्षित बनना है तो आप संयमकी साधना करिये। मैं कहूंगा इसके लिये अणुव्रत योजना अत्यन्त उपयोगी है। आप कहेंगे यह तो एक जैन सम्प्रदाय विशेषकी योजना है। हम उसे क्यों अपनायें? क्या हमें जैन बनना है? मुझे सखेद कहना पड़ता है—आज साम्प्रदायिकताका भूत किस

को एक साधनाका जीवन समझकर उसमें ब्रह्मचर्यकी पूर्ण साधना करें। सदा जागरूक रहें और यह विचार करें कि वे कौन-कौन से कारण हैं जो अब्रह्मचर्यकी ओर ढकेलते हैं। उन कारणोंको खोजकर उनका निर्मूलन करें। उन व्यक्तियोंकी संगति न करें, वैसा साहित्य न पढ़ें, जो जीवनको ब्रह्मचर्यसे हटाकर अब्रह्मचर्य की ओर ले जानेवाला हो।

जीवनकी शिक्षा

पढ़नेके बाद भी जिसमें संयमकी साधना नहीं है, हेय-उपादेयका ज्ञान नहीं है, ग्राह्य-माह्यका विवेक नहीं है वे पठित भी निरे अज्ञानी हैं। ज्ञानके साथ जिनमें शिक्षा नहीं है, वे परमार्थ में तो क्या व्यवहारमें भी सफल नहीं हो सकते। वे केवल जाननेके लिये जानते हैं, किन्तु वे यह नहीं समझते कि जाननेका प्रयोग कैसे करना चाहिये? मुझे वह घटना याद आ रही है जिसमें कि एक पढ़े-लिखे इञ्जीनियरने अपने ज्ञानका कितना हास्यास्पद प्रयोग किया। एक इञ्जीनियर किसी काफिलेके साथ चल रहे थे। जंगलका मार्ग था। आगे चलकर रास्तेमें चारों ओर पानी आ गया। काफिलेके गाड़े रुक गये। लोगोंने इञ्जीनियरसे सलाह मांगी। इञ्जीनियर साहब फौरन एक कागज और पेंसिल लेकर आगे आये। एक आदमीको जल मापनेके लिये कहा। जल मापा गया। कहीं एक दो हाथ था और कहीं पांच-सात हाथ। इञ्जीनियरने कागज पर नोट कर सारा औसत

मिला लिया। औसत ठीक था उसमें गाड़ोंके डूबने जैसी कोई बात नहीं थी। फिर क्या था? इञ्जीनियरने तुरन्त गाड़ोंको जल में उतारनेकी सलाह दी। आगेवाले गाड़ेमें बच्चोंका झुंड था। ज्योंही वह गाड़ा कुछ गहरे पानीमें पहुंचा कि जलमें डूबने लगा। लोगोंमें भगदड़ मच गई। वे तुरन्त इञ्जीनियरके पास दौड़े आये और बोले—"इञ्जीनियर साहब! आपने यह क्या किया? सारे बाल-बच्चे डूबे जा रहे हैं।" इञ्जीनियरने तुरन्त अपना कागज निकाला और दुबारा औसत मिलाया। औसत ठीक निकला। बड़े गर्वके साथ उन्होंने कहा—"लेखा-जोखा ज्यों का त्यों, छोरा-छोरी डूबे क्यों? भाई मेरा तो कोई दोष नहीं है, देखलो, यह लेखा-जोखा तुम्हारे सामने है। समझमें नहीं आता औसत ठीक होने पर भी छोकरे-छोकरी क्यों डूबे जा रहे हैं? कहनेका तात्पर्य यही है कि जो जीवन शिक्षा प्राप्त नहीं करते, वे कहीं भी सफल नहीं होते। वे अपने साथ-साथ औरोंको भी मुसीबतोंमें फंसा देते हैं। बड़े-बड़े अनर्थ कर बैठते हैं।

संयम का माध्यम—अणुव्रत

यदि आपको वास्तवमें शिक्षित बनना है तो आप संयमकी साधना करिये। मैं कहूंगा इसके लिये अणुव्रत योजना अत्यन्त उपयोगी है। आप कहेंगे वह तो एक जैन सम्प्रदाय विशेषकी योजना है। हम उसे क्यों अपनायें? क्या हमें जैन बनना है? मुझे सखेद कहना पड़ता है—आज साम्प्रदायिकताका भूत किस

विकृत रूपमें सबके दिमागों पर छाया हुआ है। मैं मानता हूं साम्प्रदायिकता अच्छी नहीं, पर क्या कभी सम्प्रदाय 'विचारकों का समाज' भी बुरा होता है। सिर्फ नाम मात्रसे ही भड़क जाना अच्छा नहीं, यह संकुचित और संकीर्ण मनोवृत्तिका द्योतक है। सवाल तो यह है कि आप पहले मानवताकी दृष्टिसे उस योजनाका अध्ययन करें, विचार करें। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि आप इन नियमोंको पढ़कर यही सोचेंगे—अनुभव करेंगे कि ये नियम तो किसी एक सम्प्रदाय या वर्ग-विशेषसे सम्बन्धित नहीं, ये तो हमारे शास्त्रोंमें भी बताये गये हैं।

आत्म-विजयके पथिक

खेद तो इस बातका है कि आप साधुओंके विषयमें सशंक रहते हैं। आज आपमें कितने ऐसे नहीं है जो चलते ही कह डालते हैं कि ये साधु-वाधु क्या हैं, समाज पर बोझ हैं? भारभूत हैं मैं मानता हूं यह कहना बिल्कुल निर्मूल नहीं। उनके सामने कुछ ऐसे ही साधु आते हैं जिनसे उनकी धारणा ऐसी बन जाती है। किन्तु साधु मात्रके लिये ऐसी धारणा करना उचित नहीं। जैन साधुओंके विषयमें मैं आपको स्पष्ट बता दूं कि वे समाजके लिये तनिक भी बोझ या भारभूत नहीं हैं। वे 'जिन' के अनुयायी हैं। 'जिन' वे होते हैं जो विजेता हैं। आत्मजयी हैं, वीतराग हैं और समस्त कर्माणुओंका नाश करनेवाले हैं। वे आज भी अपने पवित्र उद्देश्यको अक्षुण्ण रखते हुए आत्म-विजयके मार्गमें प्रस्तुत

है। 'उठें और उठायें' यही उनके जीवनका ध्रुव-मन्त्र है। वे आजके लोगोंकी तरह सुधारकी थोथी आवाज नहीं लगाते। आज ऐसे लोगोंकी कमी नहीं जो स्टेज पर खड़े होकर जीवन सुधारके विषयमें बड़ी-बड़ी वक्तृतायें झाड़ते रहते हैं। पर यदि उनके जीवनको देखा जाय तो उनसे घृणा होने लगती है। भला जिनकी कोई अच्छी जिन्दगी नहीं, आचरणोंकी कोई योग्यता नहीं, क्या वे भी कुछ कहने और प्रेरणा देनेके अधिकारी हो सकते हैं? उन्हें क्या मालूम सुधार और उत्थान कैसे होता है? सुधार और उत्थान केवल बातोंसे होने जैसी चीज नहीं है। उसके लिये अपनी कुर्बानी करनी पड़ती है। बलिदान करना होता है। तब कहीं जाकर सुधार और उत्थानकी कथा साकार होती है। जैन साधु इसी मन्त्रको लिये चलते हैं। वे यही कहते हैं तुम जो उपदेश करना चाहते हो पहले उसे अपने आचरणोंमें उतारो और फिर लोगोंसे कहो।

जैन साधु ५ नियमोंका पालन करते हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। मैत्री-विश्वबन्धुताका प्रचार करना-उनका प्रमुख कर्तव्य है। अहिंसा उनका जीवन है। अहिंसाको जो कायरता की जननी कहते हैं वे भूल करते हैं। कायरताकी जननी तो हिंसा है। अहिंसा वीरत्व की जननी है। वीरों का वह आभूषण है। किसीको तनिक भी क्लेश न पहुंचाते हुये अध्यात्मकी राह पर हँसते-हँसते अपने प्राण न्योछावर कर देना क्या कायरता है? यह तो उत्कृष्टतम वीरता का प्रमाण

है। साधुके लिये मात्र हिंसा त्याज्य है। इसी प्रकार वे पूर्ण सत्यका पालन करते हैं, किसी प्रकारकी चोरी नहीं करते, ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करते हैं और किसी भी प्रकारका संग्रह नहीं करते। साधुओंके कहीं कोई स्थान नहीं होता और न उनके लिये कहीं भोजन पानी भी तैयार होता है। वे किसी प्रकारकी सवारी नहीं करते, उनकी यात्रा पैदल होती है। देहलीमें जब विनोबाजी से मुलाकात हुई तो उन्होंने कहा—आजकल मैंने भी आपकी चीज स्वीकार कर ली है। मैंने कहा—आपने तो अब की है, हम तो शताब्दियों और सहस्राब्दियोंसे ही पैदल यात्रा करते आ रहे हैं। आप सोचें जिनके जीवनमें ऐसे महत्त्वपूर्ण आदर्श हैं क्या वे समाजके लिये भार हैं? जो निरन्तर अवैतनिक रूपमें समाजका नैतिक पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं, जो हर समय निःस्वार्थ भावसे समाजको उपदेश और शिक्षा वितरण करते रहते हैं, क्या वे किसीके लिये भी बोझ हैं? वे तो उत्कृष्टतम साधक हैं और समाजको भी साधनाके उत्तम शिखर तक पहुंचाने का अविरल व अविलम्ब प्रयत्न करते रहते हैं।

जैन साधुओंसे चौंकनेके दो कारण हैं। एक तो आपका उनसे संपर्क नहीं है। दूसरेमें आप उनकी वेश-भूषाको देखकर चौंक उठते हैं। आप सम्भवतः सोचते होंगे इन्होंने मुंह पर पट्टी क्यों बांध रखी है। लुधियाना (पंजाब) की बात है। मैं वहांके गवर्नमेन्ट कालिजमें प्रवचन करनेके लिये गया था। विद्यार्थी लोग साधुओंकी वेशभूषा देखकर आपसमें मजाक उड़ाने लगे।

एकने पूछा—ये मुंह पर पट्टी क्यों बांधते हैं ? दूसरे ने उत्तर देते हुए कहा—मुंह का ऑपरेशन कराया है। तीसरे ने इससे भी आगे कहा—मुंहमें मक्खी-मच्छड़ आदि पड़ जाते हैं इसलिए पट्टी बांध रखी है। मैं उनकी गप्प शप्प और शोरगुल्लको देखकर विचार में पड़ गया कि ये प्रवचन कैसे सुनेंगे ? मगर ज्योंही मैंने सर्वप्रथम उलझनों, भ्रान्तियों और समस्याओं को लेकर प्रवचन प्रारम्भ किया कि वे सब शान्त होकर प्रवचन सुनने लगे। मैंने कहा—विद्यार्थियों ! आप इन साधुओंकी उलझन में मत पड़िये। ये कोई दूसरी दुनिया के नहीं हैं, आपके ही भाई बन्धु हैं, आपमें से ही निकलकर ये इस जिन्दगीमें अग्रसर हुए हैं। इनकी वेशभूषा भ्रान्ति या दिखावट पैदा करने के लिए नहीं बल्कि सादगी का प्रतीक है। मुंह पर पट्टी बांधने के पीछे भी एक गहरा सिद्धान्त बल है। यह भी एक साधना का अंग है। यह दूसरी बात है कि सबके यह जचे या नहीं। जैन शास्त्रों में बताया गया है कि बोलते समय जो तेज और जोशीली हवा निकलती है उसके बाहर की हवा के साथ टकराने से वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है इसलिए इस पट्टी को बांधने का यही मतलब है कि वह हवा तेज न निकल कर धीमे से निकल जाये। इसका मतलब न तो कीड़े-मकोड़े आदि पड़ने से ही है और न कोई आपरेशन से ही। तथ्य के समझ में आते ही सब शान्त हो गये और फिर पूरा प्रवचन सबने बड़े ध्यान और शिष्टता-पूर्वक सुना।

विषमता असह्य

आज आप जानते हैं; अत्याचारी दुनिया है। साम्यवाद को लेकर चारों ओर हलचल सी मच रही है। लोगोंके लिए साम्यवाद चिंताजनक बन रहा है। लोग सोचते हैं साम्यवाद आने पर क्या हो जायगा? तथा कथित धार्मिक लोगों की तो और बुरी गति है। देहली प्रवास में कान्स्टीट्यूशन क्लब में एक व्यक्ति ने मुझसे प्रश्न किया—क्या भारतमें साम्यवाद आयेगा? मैंने कहा—अगर आप बुलायेंगे तो आयेगा? अन्यथा नहीं।

आजका युग समानता का युग है। लोग आज विषमता को सहन नहीं कर सकते। उनके लिए यह असह्य है कि एक व्यक्ति के पास तो पांच-पांच मोटरें हों और एक के पैरों में खड़ाऊ ही न हो। समानता का सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त नहीं है। प्राचीन शास्त्रों में भी समानता पर बल दिया गया है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि दोनों के तरीकों में अन्तर है। तरीके चाहे कुछ भी हों आखिर समानता लाना दोनों का ही ध्येय है। हमारी दृष्टि में हिंसासे किया गया परिवर्तन चिरकाल तक स्थायी नहीं हो सकता। हृदय परिवर्तन द्वारा लाया गया परिवर्तन ही स्वस्थ, सुखद और चिरकाल स्थायी हो सकता है। निराशावादी कहेंगे—क्या ऐसा होना कभी सम्भव है। एक-एक का हृदय-परिवर्तन करे सबको एक सूत्रमें बांधना—एक असम्भाव्य कल्पना है। मगर मैं निराशावादी नहीं आशावादी हूं। आज अगर नेता, साहित्यिक, दार्शनिक कलाविद् और कवि हिंसा के

वातावरण को फैलाना छोड़कर अहिंसा के पुनीत वातावरण को फैलाने में जुट जायें तो क्या यह सम्भव नहीं कि अहिंसा का उज्ज्वल आलोक कण-कण में छलक उठे।

धर्म से भिड़कें नहीं

मैं चाहता हूं विद्यार्थियों के जीवन में धर्म का संचार हो। आप धर्म शब्द से चौंके नहीं। मैं उस धर्मके विषयमें नहीं कहता जो पूंजीपतियों का पिट्ठलग्गू हो, उस धर्म के विषय में भी नहीं कहता जो शोषण का माध्यम बना दिया गया है, उस धर्म के विषय में भी नहीं कहता जो आडम्बरों और दुराचारों को प्रोत्साहन देता है। मगर मैं तो उस धर्म के विषय में कहता हूं जो व्यक्ति-व्यक्ति का समान आश्रयदाता है। जिसमें लिंग, रंग और जाति पांति आदि का कोई भेद भाव नहीं। जिसको निर्धन और धनिक दरिद्र और पूंजीपति सभी समान रूप से ग्रहण कर सकते हैं। मेरे दृष्टिकोण में सद्भाव और समानता पैदा करनेवाला वह धर्म किसके लिए आवश्यक नहीं है। बुद्धिवादी लोग धर्म को विष से भी अधिक अनिष्टकर मानने लगे हैं। इसका दोष तथा कथित धार्मिक लोगों का ही है। उन्होंने धर्म के पवित्र वातावरण को अपनी तुच्छ स्वार्थ सिद्धिको लेकर इतना गन्दा और कलुषित बना दिया कि जिसे देखकर आज किसके हृदय में चोट नहीं पहुंचती।

उपसंहार

अन्त में मैं आपसे यही कहूंगा कि आपलोग अगर कल्याण चाहते हैं तो अहिंसा और अपरिग्रह की महान् शक्ति के आधार पर राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक किसी भी समस्याका हल निकालकर दुनियांकी तस्वीर बदली जासकती है। विनोबाजी और क्या कह रहे हैं। अभी अभी जब जानूजी मिले तो वे यही कह रहे थे कि विनोबाजी का कहना है कि अब शीघ्र ही एक अहिंसात्मक क्रान्ति होनेवाली है। वह रुकेगी नहीं मैं भी तो यही कह रहा हूं—अहिंसा और अपरिग्रह की भावना फैलाना मेरा प्रमुख कर्त्तव्य है और जब यह भावना व्यापकरूप पकड़ने लगेगी तब क्या जो अहिंसात्मक क्रांति होनेवाली है वह रुकेगी ?

बस मैं पुनः इन्हीं वाक्यों को दोहरा देता हूं—आप उठें, जागें, जीवनका निर्माण करें, द्रष्टा बने, उद्देसो पासगस्स 'णत्थि' द्रष्टा बनने के बाद उपदेश की फिर कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। इसलिए आप पंडित नहीं सबसे पहले शिक्षित बनिये। तब ही आपका और आपके समाज का तथा देश का सही अर्थ में कल्याण होगा।

ता० ४-९-५१

जसवन्त कॉलेज, जोधपुर (राजस्थान)

त्रिवेणी-स्नान

पर्युषण-पर्व अध्यात्मका प्रतिनिधि पर्व है। इसलिए कि इसमें आत्म-आलोचन या आत्म-निरीक्षण के अतिरिक्त अन्य कोई पर्व-लक्षण नहीं।

मर्यादा का अतिक्रमण सबके लिए अक्षेमकर होता है। मनुष्य विवेकशील है किन्तु विविक्त-आचार नहीं है—स्वमर्यादा में नहीं है। वह पर-मर्यादा में जाता है—कहीं सुलझता है, कहीं उलझता है, किसी को मित्र मानता है, किसी को शत्रु। इस प्रकार वह अपने हाथों अपने लिए अनन्त बन्धन रच लेता है। आत्माका सहज आनन्द दब जाता है। बाहर से आनन्द लाने के लिए फिर अनेक आमोद-प्रमोद के पर्व मनाये जाते हैं। मैं चाहता हूं कि पर्युषण-पर्व को यह रूप न मिले। यह बाहरी आनन्द, रूढ़ि का पालन और वाणी-विलास का रूप न ले।

आत्म शोधन के इस महान पर्व में आचार-शुद्धि, विचार-शुद्धि, विश्वास-शुद्धि की त्रिवेणी बहे, पूरे वर्ष के लिए सहज आनन्दका संबल जुटे, तभी इसका पर्वरूप सफलता लासकता है।

[ता० ५-९-५१ को अ० भा० जै० श्वे० तेरापंथी युवक परिषद् द्वारा आयोजित पर्युषण पर्व-समारोह के अवसर पर]

क्षमा

जीवन का मूल मन्त्र—क्षमा

संसार दुःखी है और वह इसलिए दुःखी है कि आज व्यक्ति-व्यक्ति की मानसिक स्थिति असन्तुलित बनी हुई है। मनुष्य अपने गुण-अवगुण को पहचान नहीं सकता। फिर दुःख कैसे न हो ? दुःख को दूर तो तभी किया जा सकता है जबकि मनुष्य गुण पर गर्व न करे और अवगुणों से पल्ला छुड़ाए। जब तक ये दो बातें नहीं होती तब तक दुःख दूर होना सम्भव नहीं। जब यह होगा, तब निश्चित समझिये, आत्मामें समताका निर्मल स्रोत फूट पड़ेगा। तब अनिर्वचनीय आनन्द बरसानेवाला खमतखामना अपने आप मानवताकी महान् विजय का शंखनाद फूंकेगा। क्षमा, साधक-जीवन का मूल मन्त्र है। उसके अभाव में साधक-जीवन की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। जो क्षमा से विमुख होकर क्रोध को प्रश्रय देते हैं वे मानों अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चलाते हैं। क्रोधी व्यक्ति क्षण भर भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। उसका अन्तःकरण क्रोधाग्नि में क्षण-प्रतिक्षण जलता रहता है। होठों में अस्वाभाविक फड़कन और

आंखों में लाली छाई रहती है। इस पर भी जो गम्भीर गुस्से वाले, हठीले, गठीले होते हैं, उनके दुःख और अशान्तिका तो कहना ही क्या? कहते हैं—नरकमें प्राणीको एक क्षण भी सुख व शांति नहीं मिलती। यह है नरककी बात, किन्तु जो हठीले और गठीले व्यक्ति हैं उनमें उन नरकवासियोंसे कुछ अन्तर है क्या?

चिकित्सा पद्धति का आविष्कार

मानव-जीवन की इस महान् कमजोरी को अनुभव कर आत्मदर्शियों ने इस भयंकर रोग को मिटाने के लिए खमत-खामना जैसी पावन-पुनीत चिकित्सा पद्धतिका आविष्कार किया। यह उनकी महान् देन है, जिसको कभी भुलाया नहीं जासकता। इस महान् चिकित्सा पद्धति का प्रयोग कर कितनों ने अपना जीवन परिष्कृत किया, यह तथ्य जैन-इतिहास के विद्यार्थियों से अज्ञात नहीं। आज भी इस चिकित्सा-पद्धति के सहारे कितने व्यक्ति अपने जीवन को पाशविकता को निकालकर मानवीय आदर्शोंकी प्रेरणा ग्रहण करते हैं, इससे भी आज हम अनभिज्ञ नहीं। हम उन महान् महर्षियों के हृदय से कृतज्ञ हैं, जिन्होंने मानवीय दुर्बलताओं को चुनौती देते हुए भीषण अन्धकारमें एक विराट्-प्रकाश-स्तम्भ का निर्माण किया है।

अनुकरणीय घटना

यह बात नहीं है कि क्रोधी व्यक्ति को अपनी दुर्बलता का भान नहीं होता; वह अपनी कमजोरी के लिए भीतर रोता है।

वह चाहता है कि आपसी वैमनस्य मिट जाय। मगर मिटे कैसे ? पहल कौन करे ? दोनों को अपनी अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल रहता है। लोग क्या कहेंगे—अमुक व्यक्ति कमजोर है, हार गया। कमजोर लोग इन तुच्छ उलझनों में उलझे रहते हैं, वे अपने मार्गका सही निर्माण नहीं कर सकते। मैं पूंजीपति या शक्तिशाली को बड़ा नहीं समझता, बड़ा मैं उसे मानता हूं जो वैमनस्य को मिटाने के लिए पहल करता है। वह फिर चाहे साधारण स्थिति वाला ही क्यों न हो, सामने वाले को झुका लेगा, हृदय परिवर्तन कर देगा और उसकी गति को मोड़ देगा। मुझे वह मेवाड़ की घटना याद आरही है जिसमें कि एक हरिजन और एक महाजन, उस समय के शब्दों में कहूं तो एक सेठ और एक ढेढ के परस्पर में कुछ अच्छा सम्बन्ध था। कारणवश उनका वह सम्बन्ध टूट गया और आपस में अनबन व वैमनस्य रहने लगा। वैमनस्य बढ़ा भी इतना बढ़ा कि आपस का लेन देन और यहां तक कि बोल-चाल भी बन्द हो गई। सेठ ढेढ को देखकर जल उठता है और मुंह फेर लेता है और ढेढ सेठ को देखकर। लगभग १० वर्ष बीत गए किन्तु उनका तनाव कुछ भी कम नहीं हुआ। संयोगवश एक दिन आचार्य भिक्षु के विद्वान शिष्य हेमराजजी स्वामीका वहां आगमन हुआ। सर्व प्रथम ढेढकी नजरमें वे आये। ढेढ सन्तोंका भक्त था। उसने विचार किया, गांवमें किसीको मालूम नहीं है अगर मैं सूचना नहीं दूंगा तो कौन सन्तोंके सामने आएगा और कौन सन्तोंका

स्वागत करेगा ? किन्तु……किन्तु……उस सेठ को मैं कैसे सूचना दूंगा ? जिसको मैं देखना, सुनना और समझना तक नहीं चाहता। दो क्षणतक उसके हृदयमें अन्तर्द्वन्द्व मचा रहा। वह क्या करे ? सेठको सूचना दिये बिना कार्य सम्पन्न होना कठिन-सा लगता था। इतने ही में उसे एक प्रकाश-पुञ्ज दिखाई दिया। उसका सारा अन्तः संघर्ष समाप्त हो गया। उद्वेग और चिन्ताकी लपटें एक साथ शांत हो गईं। उदारता और विवेकका महान् स्रोत उसके हृदयमें उतर आया। उसने विचार किया, सेठसे जो मेरा वैर-विरोध है वह दुनियावी झंझट है। आखिर हम दोनोंका धर्म तो एक ही है। धर्मको लेकर हम दोनोंमें कोई विभेद नहीं। अतः धार्मिक कर्त्तव्यके नाते मुझे सेठको अवश्य सूचना देनी चाहिए। यह सोचकर वह वहां से दौड़ता २ सेठके मकान पर पहुंचा और बाहरसे ही उच्च स्वरसे आवाज लगाई। सेठ, ढेढ़को अपना नाम लेकर पुकारते देख आश्चर्य चकित रह गया। उसने तुरन्त कहा क्यों भाई ? क्या कहते हो ? ढेढ ने कहा—"गांवमें सन्त आ रहे हैं"। सेठने पूछा—"किधरसे" ? ढेढने कहा—"उधरसे"। बस इतना कहकर ढेढ वापिस सन्तोंके सामने दौड़ आया। इधर सेठ भी सबको सूचना देकर सन्तोंके सामने आया। सन्त गांवमें पधारे, व्याख्यान हुआ। सेठके विचार आज मन ही मन में चक्कर काट रहे थे। ढेढने आज उसके मर्मको झकझोर डाला था। सेठने विचार किया—ढेढ कितना उदार है जो मुझे सूचना देने मेरे घरआया। व्याख्यान

समाप्त होते ही सेठ परिषद्में खड़ा होकर गद्‌गद् स्वरोंमें अपनी आत्म-निन्दा करते हुए हृदयके उद्‌गार प्रगट करने लगा—"श्रद्धेय मुनिवर एवं अन्य भाइयो ! मैं आज अपने दिलकी बात आप सबके सामने रख रहा हूं। देखिये, वह जो ढेढ बैठा है उसके और मेरे बीचमें आज वर्षोंसे भयंकर वैमनस्य चला आ रहा है। मैं समझता हूं आज यह मुनिवर के शुभ आगमनके कारण समाप्त होने जारहा है। इसके पहले मैं यह स्पष्ट शब्दोंमें कहूंगा कि यह उदारचेता ढेढ होते हुये भी सेठ है और मैं संकीर्ण हृदय सेठ होते हुये भी ढेढ हूं। मैं अन्तर-आत्मासे प्रेरित होकर कहता हूँ कि अगर सन्तोंके आगमनका मुझे पता होता तो मैं त्रिकालमें भी इसको सूचना नहीं देता। इसने ऐसा कर आज मेरे हृदयके सारे कुंठित तारोंको झनझना दिया है। इसलिये मैं मानता हूं गुण, लक्षण और विवेकसे यह सेठ है और मैं ढेढ। मैं आज अपने अकरणीय कृत्यों से लज्जित और नत-मस्तक हूं। मैं बद्धांजलि उससे प्रार्थना करता हूं कि वह क्षमा स्वीकार करे और अपनी ओर से मुझे क्षमा प्रदान करे। ढेढ़ने तुरन्त खड़े होकर सबके सामने सेठको क्षमा प्रदान कर मैत्रीपूर्ण वातावरण में खमत-खामणा किया। देखनेवालों ने इस बिगड़े हुये सम्बन्ध को आशातीत सफलतापूर्वक इसप्रकार प्रेम-भावना के साथ सुधरता हुआ देख कर गद्‌गद् स्वरोंमें दोनों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस घटित घटना से जन-जनको यही शिक्षा ग्रहण करनी है कि वे विचारें, सोचें, विवेक पूर्वक एक-एक कदम आगे

बढ़ायें। ऐसे आदर्शपूर्ण मानवीय चित्रोंको अपने सामने रख कर आत्म-शोधन करें।

रस्मके रूपमें न मनायें

जब मैं सुनता हूं अमुक गांवमें वैमनस्य है तो सोचता हूं- वे कौन हैं ? धार्मिक हैं, जैन हैं ? पोषध, उपवास, सामायिक और नाना प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान करनेवाले हैं ? मन में आता है यह क्या ? क्या है वह धार्मिकत्व ? और क्या है जैनत्व ? जब कि आत्मा में पशुत्व धंसा हुआ है। पशुत्व मनुष्यके आकार-प्रत्याकारमें नहीं रहता, बल्कि वह भीतर घुसा हुआ रहता है।

आज क्षमा-याचना दिवस है। खमत-खामना का अर्थ है अपने द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूपमें आचरित अनुचित व्यवहारके लिये क्षमा मांगना और अपनी ओर से दूसरों को देना। दोनों ओरके परिमार्जन व विशुद्धि का यह हेतु है। आजके इस महत्त्वपूर्ण दिनसे प्रेरणा लीजिये। स्थिर-चित्त और अन्तर-दृष्टिमय बन कर अपनी अन्तर-आत्मा को टटोलिये। अपना परिमार्जन करिये।

इस महान् पर्वको एक रस्मके रूपमें न मनायें। यह जीवन शुद्धि व आत्मान्वेषणका पुनीत पर्व है। दूसरोंके प्रति कभी असद् भाव व दुर्व्यवहार मत कीजिये। इस प्रक्रियाको समझ कर आप हृदयसे पशुताके समस्त अंशोंको निकाल कर तथा हृदय को खोलकर खमत-खामना कीजिये। जान या अनजानमें किसी

कि अनेक प्रकारकी तात्त्विक चर्चायें चलती रहती हैं, सबके साथ रातको क्षमतक्षामना किया।

आखिर में सबसे यही कहूंगा, लोग इस महान् पर्वको रूढ़िके रूपमें न मनाकर वास्तविक रूपमें मनायें।

[पर्युषण-पर्वके नवाह्निक कार्यक्रम के अन्तर्गत ता० १२-९-५२ को क्षमा-दिवसके अवसर पर]

श्रद्धा तथा सत्‌चर्याका समन्वय करिये

आज जीवनके ऊँचेपन तथा प्रतिभाका मान-दण्ड बदलगया है। जहाँ त्याग, सेवा, संयम व साधना ऊँचेपनका मापदण्ड था; आज वहाँ अधिक से अधिक अर्थ संग्रह कर लेना ही ऊँचेपन की कसौटी है। फलतः विद्या-अर्जन जिसका लक्ष्य आत्म-संयम व चारित्र्य-विकास होना चाहिए, आज आजीविका के लिए किया जाता है। यह हीन मनोवृत्तिका परिचायक है। विद्यार्थियों को यह वृत्ति छोड़ देनी होगी। वे विद्याके सही लक्ष्यको समझें। आजीविका ही एकमात्र उनका ध्येय नहीं होना चाहिए।

आज श्रद्धा और आत्मविश्वासकी छात्रोंमें कमी देखी जाती है। आस्तिक भावना दिन पर दिन क्षीण होती जा रही है, नास्तिकता को बढ़ावा मिल रहा है। आत्माके अस्तित्वमें निष्ठा कम होती जा रही है विद्यार्थी समझें—बाहरसे दीखनेवाला यह जीवन ही जीवन नहीं है। जीवनकी परिधि इससे भी विशाल

है जैसे वृद्धावस्थासे पूर्व यौवन, यौवनसेपूर्व बचपन है, उसी तरह बचपन व जन्मसे पूर्व भी एक स्थिति है, जिसके संस्कार हमें एक ही साथ पैदा हुए विभिन्न व्यक्तियोंमें भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देते हैं। इस प्रकार आत्मवादका स्वरूप विद्यार्थियों को हृदयङ्गम करना है। जिसके लिये श्रद्धाकी महती आवश्यकता है। श्रद्धापूर्ण तर्क श्रेयस् का हेतु है। जबकि शुष्क तर्क केवल वाग्विलास व दिमागी व्यायाम है।

विद्यार्थी श्रद्धा एवं सत्चर्याको अपनायें। उनका जीवन विकासशील होगा।

ता० १६-९-५३

महाराज कुमार कालेज जोधपुर (राजस्थान)

मेरी नीति

वक्ताओंने मेरे परिचयमें बहुत बातें कहीं और मेरी स्तवना की पर मुझे इससे कोई प्रसन्नता नहीं। मेरे लिए तो आजका दिन अपने लेखे-जोखे, सिंहावलोकन तथा भावी नीतिके उद्घोषण का दिन है।

वर्ष भरकी घटनाएं आज मेरे समक्ष मानो सजीव होकर नाच रही हैं। मैंने आत्म निरीक्षण किया, वर्ष भरका सिंहावलोकन किया। अपनी नीतिके सम्बन्धमें भी आप लोगोंके समक्ष दो शब्द कह दूं—हमारी नीति सदा मंडनात्मक, समन्वयात्मक रही है और आगे भी रहेगी। किसीकी ओरसे किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं होना चाहिए पर इसका मतलब यह नहीं कि हम शिथिलाचारको देखकर भी कुछ नहीं कहेंगे। हमें चोर पर आक्रमण नहीं करना है, चोरीको खतम करना है।

जैसा कि मेरा प्रयास है—लोग प्रगति के नाम पर भटकें नहीं। प्रगतिका वास्तविक अर्थ है—आत्मशोधन में सजग रहते हुए जनता को आत्म-चेतना तथा व्यवहार शुद्धिमें अग्रसर करना। सही मानेमें यही धर्माराधना है।

धर्म आत्म-शुद्धिका प्रतीक है। वहां संकीर्णता व अनुदारता कैसी? क्या महाजन और क्या हरिजन, धर्म सुनने, उस पर चलनेका सबको अधिकार है। धर्म जैसी निर्बंध, बेलाग व सार्वजनिक वस्तु पर किसी व्यक्ति-विशेष, जाति-विशेष व समाज-विशेष का अधिकार कैसे हो सकता है? अस्तु।

इस विशाल-भावना-मूलक नीतिको लिए मेरा प्रयत्न है—जन-जनमें धर्म-भावना, सद्वृत्ति, सचाई व शीलकी प्रतिष्ठा हो, जिससे मानव-समाज आजके नारकीय जीवन से छुटकारा पा दैवी जीवनमें प्रवेश पासके।

[ता० १७ ९-५३ को जोधपुर में आयोजित
पट्टोत्सव-समारोह के अवसर पर]

आत्म-दर्शन की प्रेरणा

भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान संस्कृति है। यह बहिरंग के नहीं अन्तरंग के माध्यम से चलती है। यहां बहिर्दर्शन की महत्ता नहीं, अन्तर्दर्शनका मूल्य है।

ऋषियोंने बताया—कल्याण चाहनेवाला व्यक्ति अन्तर्द्रष्टा बने। उन्होंने यह भी कहा—मानव खेदज्ञ बने। जैसे अपनेको सताये जाने पर उसे खेद—कष्ट होता है, उसीतरह दूसरोंको भी होता है। जैसे भय अपनेको अप्रिय है, उसीतरह दूसरोंको भी अप्रिय है। अतः दूसरोंके लिए भय पैदा न करे। भय प्रमाद है, अन्तर-आत्माका दौर्बल्य है।

अहिंसा के लिए आज कुछ लोग कहते हैं—यह कायरोंका धर्म है, कमजोरी है। ऐसा कहनेवाले अहिंसा का गूढ़ तत्व समझ नहीं पाते। अहिंसा तो वीर वृत्ति है। मौतका भय संसारमें सबसे बड़ा भय मानाजाता है। मौत जैसी विभीपिकासे निर्भय

रह हँसते-हँसते साधना-पथ पर प्राण न्यौछावर कर देना—जो अहिंसक भावना से ही संभव है, क्या दुर्बलता या कायरता कहा जायेगा ? यह तो अनुपम वीरताका निदर्शन है।

जैसाकि मैंने बताया—प्रमाद भय है, दोष है, वर्जनीय है, वह चरित्र को नीचे गिराता है, आत्माका भयानक शत्रु है। अप्रमादका सहारा ले मानव प्रमादको जीते। इससे उसमें निर्भयता आयेगी और आत्मबल जाग उठेगा।

चरित्रका महत्त्व इसलिए है कि इस जीवन से परे भी एक जीवन है। इस जीवनका लोप जीवनका आत्यन्तिक लोप नहीं है। तिसपर भी जीवनका अस्तित्व बना रहता है। वर्तमान जीवनकी सत्-असत् क्रिया-प्रक्रियाओंका परिणाम है आगामी जीवन का निर्माण। वर्तमान जीवन विगत जीवनके कर्मसमुदायकी प्रतिकृति है।

आज लोग अपने आपको नहीं देखते। वे दूसरोंको अधिक देखते हैं। उन्हींको सुधारनेकी कोशिश करते हैं। सबसे पहली आवश्यकता यह है कि वे अपने आपको सुधारें, जीवनको हल्का व सात्विक बनायें। बाह्य पदार्थों व साज-सज्जामें सुखकी कल्पना एक निःसार कल्पना है। आज मानव बहुत ज्यादा परमुखापेक्षी बन गया है। यही कारण है कि उसे सच्चे सुख तथा शान्तिकी सही राह नहीं मिलती।

पुराने जमानेमें न आज जैसे विशाल प्रासाद ही थे और न अन्यान्य भौतिक सुविधाएं ही। शिक्षाका भी आजकी तरह

प्रचार नहीं था। फिर भी लोग सुखी थे। उनमें आत्मशक्ति थी जिसका आज लोगोंमें बड़ा अभाव दिखाई देता है। कहनेको आज लोग स्वतन्त्र कहे जाते हैं पर वास्तवमें स्वतन्त्र नहीं परतंत्र हैं। वे अपने अन्तस्तलको भुलाते आ रहे हैं। इष्ट-संयोग व अनिष्ट-वियोगमें अपनेको सुखी तथा इष्टवियोग और अनिष्ट-संयोगमें अपनेको दुःखी अनुभव करने लगते हैं। इससे अधिक आत्मिक गुलामी और क्या होगी? पर-पदार्थोंके संयोग-वियोग से सुख-दुःखकी मान्यता आर्त ध्यानका कारण है। इससे चित्त अस्त-व्यस्त रहता है। मानसिक चिन्तन विकृत रहता है। आत्मामें सन्तुष्टि अनुभव नहीं होती। यह आत्माका दोष है।

आत्म-दोषोंकी परम्पराको मिटाना ही सही मानेमें सुखकी ओर अग्रसर होना है। क्रोध, मान, माया, लोभ इसी परम्परा के प्रमुख अङ्ग हैं। इनके वश हुआ मनुष्य क्या नहीं कर बैठता। इन दोषोंसे मुक्त होना ही सही मानेमें सुखी बनना है।

आज हर व्यक्ति चाहता है कि मैं दूसरों पर हुकूमत करूं, दूसरे मेरे नियन्त्रणमें रहें, मेरा शासन सब पर चले। इस मनो-भूमिका परिणाम यह हुआ कि मानव अपनेको भुला बैठा। अपने अन्तरतमकी परख छोड़ बहिर्जगत्में उसने नजर दौड़ाई। जीवन की धारा किधर जारही है, इसका उसे भान नहीं रहा। उन्नत होनेके बदले यह अवनत हुआ। इसलिए मेरा कहना है कि यदि मानवको सही रूपमें सुख और शान्तिकी प्यास है तो वह आत्मद्रष्टा बने, पर-द्रष्टा नहीं।

आत्म-दमन तथा आत्म-नियन्त्रण ही आत्म-विकासका सही सोपान है। भारतीय संस्कृतिका सदासे इस पर जोर रहा है। दूसरोंका दमन करना छोड़ अपने आपका दमन करो। इससे जीवनमें एक नई चेतना और स्फूर्ति जागेगी। बुराइयोंका परिहार होगा, जीवन भलाइयोंकी ओर उन्मुख बनेगा।

आज संसार विषम समस्याओंसे व्याकुल है। वे युद्धों और संघर्षोंसे सुलझनेवाली नहीं। उनके सुलझानेका एकही मार्ग है और वह है आत्मदमन, अहिंसक क्रान्ति व नैतिक जागृति का अवलंबन।

[ता० १९-९-५३ को रोटेरी क्लब जोधपुर की ओर से मिनर्वा-भवन में आयोजित परिषद् के अवसर पर]

शान्ति के दो पथ

संसारमें शान्ति और सुख सब चाहते हैं। इसमें कोई दो मत नहीं। पर शान्ति कैसे लाई जाये—इस सम्बन्धमें हमारे सामने दो साधन हैं—हिंसात्मक और अहिंसात्मक। हिंसात्मक साधनोंमें विश्वास रखने वाले जब और-और साधनोंसे विषमता मिट न सके, स्थिति सम बन न सके तब वे हिंसाको प्रश्रय देते हैं। हिंसा से ही वैषम्य मिटायाजाय—ऐसा उनका विचार नहीं। अहिंसावादी कहते हैं—शुद्ध साध्यके लिए साधन भी शुद्ध होना चाहिए। हिंसा या बलप्रयोग-जैसे साधनोंसे पैदा की हुई समता कहने भरके लिए समता है, उसकी तहमें वैषम्यकी ज्वाला धधकती रहती है, समय पाकर वह फूट भी पड़ती है।

ये दो विचारधाराएं हैं। मुझसे पूछाजाय कि किस धारा का अवलंबन करूं—मैं तो अहिंसावादी हूँ। मैं यह कैसे राय दूंगा कि हिंसात्मक साधनोंको आप लें। आज सबका इतिहास

भारतीय दर्शन की धारा

जिज्ञासा या एषणा—खोज मानवीय चेतनाकी सहज वृत्ति है। विश्व क्या है, जीवन क्या है, जीवनका लक्ष्य क्या है—ये वे प्रश्न हैं जो प्रत्येक चेतनाशील मानवके मस्तिष्कमें सदासे उठते आये हैं। विवेकी मानवने सतत् साधना, अनुशीलन और अनुभूति द्वारा इनका समाधान ढूंढ़नेमें अपनेको खो सा दिया। उसी चिन्तनके प्रतिफलमें दर्शन निकला। दर्शन और कुछ नहीं जीवनकी व्याख्या है—विश्लेषण है, सत्यकी खोज है। समस्त दर्शनोंका मूल बीज है—दुःखके अभिघात और सुखके लाभकी आकांक्षा। इस मौलिक धारणाकी दृष्टिसे विभिन्न दर्शनोंके उद्गममें अन्तर नहीं, वह एक है। ध्यान रहे—दर्शन केवल विद्वानों तथा विचारकोंके दिमागी व्यायामका विषय नहीं, वह तो व्यक्ति-व्यक्तिके जीवन से सम्बन्धित एक आवश्यक व व्यवहारिक पहलू है।

भारतीय दार्शनिकोंने जहां जीवनके बाहरी पक्षको बारीकी से समझा, वहां उन्होंने अन्तर पक्षके पर्यवेक्षण तथा अन्वेषणमें भी कोई कसर नहीं छोड़ी। भारतीय विचार धाराकी त्रिवेणी जैन, वैदिक और बौद्ध इन तीन प्रवाहोंमें बही। समन्वयकी दृष्टिसे देखाजाए तो हम तीनोंमें अभेद पाते हैं। जहां वैदिक ऋषि विद्या और अविद्याकी विवेचना कर अविद्याकी हेयता और विद्याकी उपादेयता बताते हुए ब्रह्मसारुप्यकी राह दिखाते हैं, जैन तीर्थङ्कर आस्रव और सम्वर अर्थात् कर्मबंध और कर्मनिरोध का विश्लेषण कर आत्मशुद्धिकी प्रेरणा देते हुए निर्वाणकी व्याख्या करते हैं। दूसरी ओर बौद्ध आचार्य दुःख, समुदय, मार्ग आदि आर्य सत्योंको प्रस्तुत कर जन्म-मरणके संस्कारों से छूटनेकी बात कहते हैं।

संक्षेपमें कहाजाए तो सभीने आसक्ति, लालसा, द्वेष और लोभ जैसी वृत्तियोंको बंधन कहा है और उनसे मुक्त होनेकी प्रेरणा दी है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिसे निष्पक्षतया सोचनेवालोंके लिए इनमें कोई भेद-रेखा नहीं रहती, प्रत्युत गहरे समन्वय, सामंजस्य और ऐक्यकी पुट मिलती है।

आज दार्शनिक जगत्के लिए यह आवश्यक है कि वह उसी समन्वयमूलक मनोवृत्तिके सहारे आगे बढ़े। दर्शनको, जो जीवन-शुद्धि और आत्ममुक्तका विधान है, आपसी संघर्षका हेतु न बनाए। कहते खेद होता है—अतीतमें एक बुरा समय अभिशाप बनकर दर्शन-क्षेत्रमें आया—दर्शनके नाम पर रक्तपात हुआ,

संघर्ष हुआ, भाई-भाईके बीच वैमनस्यकी भेद-रेखाने आ उन्हें अलग किया। यह भूलभरा विचार था, आगे इसकी पुनरावृत्ति नहीं करनी है।

दर्शन आग्रह, हठवादिता और पकड़ नहीं सिखाता। यह तत्त्वका साक्षात्कार कराता है। अपेक्षा-भेदसे तत्त्वके अनेक रूप हैं और वे सबके सब सही हैं। एकान्ततः व अत्यन्ततः तत्त्व यों ही है—ऐसा आग्रहपूर्ण प्रतिपादन सही नहीं। जैन-मनीषियोंको अनूठी सूझ सापेक्षवाद ने इस समस्याको बड़े अच्छे ढंगसे सुलझाया। उन्होंने बताया—एक ही वस्तु का दृष्टिभेद या अपेक्षाभेद से अनेक तरह से प्रतिपादन किया जा सकता है। अपनी-अपनी अपेक्षा के सहारे यह सब तथ्यपूर्ण है। एक छोटा सा उदाहरण लीजिये—एक व्यक्ति पुत्र भी है, पिता भी है, भाई भी है और पति भी है। अपने पिता की अपेक्षा से वह पुत्र है, अपने पुत्र की अपेक्षा से वह पिता है, अपने भाई की अपेक्षा से वह भाई है, और पत्नी की अपेक्षा से पति। यहां पर यह आग्रह अनपेक्षित है कि वह जब पिता है, तब पुत्र कैसा। भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उसमें पुत्रत्व, पितृत्व, भ्रातृत्व और पतित्व आदि अनेक धर्म हैं। दूसरा उदाहरण लीजिये—एक व्यक्ति छोटा भी है और बड़ा भी। बड़ापन और छोटापन दोनों परस्पर विपरीत धर्म हैं पर अपेक्षाभेद से व्यक्ति में दोनों घटित हैं। अपने से बड़े की अपेक्षा वह छोटा है और छोटे की अपेक्षा बड़ा। इस प्रकार सापेक्ष-

स्याद्वाद-सिद्धान्त जीवन की उलझी गुत्थियों को सुलझाता है, इसमें भेद-रेखा को मिटा उसकी जगह अभेद, ऐक्य, समन्वय तथा सामंजस्य को रख देता है। इसीका दूसरा नाम है—स्याद्वाद या अनेकान्तवाद। विश्व के महान् वैज्ञानिक आईन्स्टीन की Theory of Relativity का मूल-बिन्दु भी यही है, जैसा कि जानने में आता है। अस्तु—

अन्त में मेरा दर्शन के प्राध्यापकों, विद्यार्थियों एवं दूसरों से यही कहना है—जैसा कि भारतीय ऋषि सदा से कहते आये हैं—वे प्रेयस् को छोड़ श्रेयस् को पाने का यत्न करें। दूसरों को इस मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा दें। उनके दार्शनिक अनुशीलन और मनन की इसी में सार्थकता है।

[ता० २६-५-५२ को राजपूताना विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग की ओर से आयोजित व्याख्यान-माला का उद्घाटन करते हुए]

राष्ट्र-निर्माण का सही दृष्टिकोण

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। वह आत्मशुद्धिका मार्ग है। जन-निर्माणका साधन है। वह राष्ट्र-निर्माणमें कहाँ तक सहायक होसकताहै—आज हमें इसपर सोचना है। जैसाकि आज बहुतसे लोग समझने लगे हैं, क्या राष्ट्र-निर्माणका अर्थ है—एक राष्ट्र अपनी सीमाओंको दूर दूर तक बढ़ाताहुआ उन्हें असीम बनाले ? अन्यान्य शक्तियों और राष्ट्रोंको कुचलकर उनपर अपनी शक्तिका सिक्का जमाले ? दूसरे राष्ट्रोंको अपने अधिकृत करले ? नये नये विध्वंसक शस्त्रों द्वारा दुनियामें अशान्ति और तबाही मचादे ? मैं कहूंगा—यह राष्ट्र-निर्माण नहीं, उसका विध्वंस है, विनाश है, इसमें धर्म कभी भी सहायक हो नहीं सकता। धर्म राष्ट्रके बाह्य कलेवरका नहीं, आत्माका परिशोधक है। राष्ट्रमें फैली बुराइयोंको जन-जनके हृदय-परिवर्तनके सहारे

है—किसी धर्मविशेष का न होकर सब धर्मवालों का राष्ट्र पर समान अधिकार है। भारत जैसे विशाल देश में जहां सैकड़ों धर्म-सम्प्रदाय हैं, एक धर्मविशेष की छाप राष्ट्र पर होना कभी उचित नहीं। अस्तु—अन्त में मेरा यही कहना है कि राष्ट्र की आत्मा—उसमें बसनेवाली जनता के जीवन-निर्माण में धर्म के सार्वजनिक सिद्धान्त बहुत बड़ा काम करते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति को सुधार का मार्ग दिखा राष्ट्र को एक बहुत बड़ी देन देते हैं।

[ता० २७-९-५३ को कुमार-सेवा-सदन, जोधपुर की ओर से आयोजित विचार-परिषद् के अवसर पर]

स्वार्थ का अतिरेक

धर्मका मूल ममता है। वह मानव-मानवके बीच ही नहीं प्राणीमात्रके साथ होनी चाहिए। मनुष्य इतना स्वार्थी बनगया कि वह सिर्फ अपने लिए समानताकी बात करता है। दूसरोंकी पीड़ा उसे पीड़ा ही नहीं लगती।

मनुष्यके प्रति अन्याय करने से सिर्फ इसीलिए कुछ संकोच होता है कि वह उसे ईंटका जवाब पत्थरसे देनेकी बात जानता है और देदेता है। बेचारे मूक प्राणी कुछ कर नहीं पाते इसलिए उनके प्रति निर्मम व्यवहार करनेमें मनुष्यको जरा सा भी संकोच नहीं होता। किन्तु विचारशील मनुष्य-समाजके सिर यह कलंक का टीका है।

कई परिचमी यात्रियोंने मुझे कहा कि भारतके धर्मप्रधान कहलानेवाले लोग पशुओंके प्रति बड़े क्रूर हैं। इसमें कोई शक

नहीं कि इस समय भारतीय जनतामें स्वार्थका अतिरेक होरहा है।

जो मंडल साधन-शुद्धि द्वारा जनता का वर्तमान रुख बदलने में संलग्न है, उसकी सत् प्रवृत्तियों को प्राणीमात्र की बहुत बड़ी सेवा मानता हूं।

[अक्टूबर, ५२ को बंबई में आयोजित जीवदया मण्डल के विशेष अधिवेशन के अवसर पर]

विद्यार्थी या आत्मार्थी

विद्या-अर्जन का मकसद केवल साक्षरता तथा ऊँची-ऊँची उपाधियाँ पा लेने से पूरा नहीं होता। उसका सही लक्ष्य है—जीवन को समझना, उसे संस्कारित बनाना। विनोबा जी ने एक जगह लिखा है—"अधिक पढ़ना एक व्यसन है, यदि उस पर मनन और आचरण न किया जाये।" बात ऐसी ही है। जिस पढ़ाई ने अन्तरतम को नहीं छुआ, उसे जागृत नहीं किया, वह पढ़ाई कैसी पढ़ाई ?

विद्यार्थी सही माने में आत्मार्थी है। वह आत्मा को खोजे, अपनी बुराइयों को देखे, उनसे अपने को मुक्त बनाये। फलतः जीवन में संस्कार और सात्विकता आयेगी।

विद्यार्थी-जीवन एक तपस्वी-जीवन है, साधना-काल है, भावी जीवन के लिए सृजन-वेला है। तपस्वी की तरह विद्यार्थी

एक। जिसका अभिप्राय है—अधिक सुनो, कम बोलो। अंतमें यही कहना है—विद्यार्थी चरित्रगठन और नैतिकताके आदर्शों पर चलते हुए अपने जीवनका निर्माण करें।

[अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्, जोधपुर-शाखा की ओर से ता० ४-१०-५३ को आयोजित विद्यार्थी-सम्मेलन के अवसर पर]

अहिंसा और दया का ऐक्य

सब प्राणियोंके प्रति संयम, समता, अनाभिद्रोहका नाम अहिंसा है। किसी प्राणीको किसी भी प्रयोजन या साध्यके लिए पीड़ा देना, सताना, मारना, मनको चोट पहुंचाना हिंसा है। आवश्यकता एवं अनिवार्यतासे हिंसा-अहिंसा नहीं बन जाती। चूंकि एक व्यक्ति हिंसाके बिना समाजमें अपना निर्वाह नहीं कर सकता इसी हेतु उस हिंसाको अहिंसा मान बैठना मूलमें भूल है। विशुद्ध अहिंसामें अपवाद नहीं। हां माना, राजनीति तथा शासन-सूत्रका संचालन अथवा निर्वाह हिंसाके बिना हो नहीं सकता। न्याय-व्यवस्था, राष्ट्र-रक्षा आदिके निमित्त राजनैतिक व सामाजिक व्यक्ति यथावश्यक हिंसाका सहारा लेते हैं। अपने-अपने क्षेत्रकी दृष्टिसे ऐसा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इसी प्रसंगमें राजनैतिक आवश्यकताकी दृष्टिसे कहा गया है :—

"नाततायिवधे हन्तुर्दोषो भवति कश्चन ।"

ये-ये आवश्यकताएँ या कर्त्तव्य हिंसाको अहिंसा नहीं बना सकते। हिंसा हिंसा ही है। अहिंसाका संपूर्णतः पालन न किया जा सके, हिंसासे पूरी तरह बचा न जासके, इससे हिंसा अहिंसा नहीं बनजाती।

कहा जाता है—धर्मके लिए होनेवाली हिंसा हिंसा नहीं होती। मैं कहूंगा—धर्म और हिंसा—इनका कैसा जोड़ा ? जो हिंसासे जन्य है, वह कहीं धर्म हो सकता है ? धर्म तो अहिंसा, त्याग, सचाई और समतामें है। जो धर्म हिंसासे रक्षित है, वाकई वह धर्म नहीं, धर्मके नाम पर कलंक है। धर्मका जामा पहने वह अधर्म है।

अहिंसा, दया या अनुकम्पा एक है। इनमें नाम-भेदके अतिरिक्त तत्त्वतः कोई भेद नहीं। दयाके दो रूप हमारे सामने हैं—पाप आचरणसे आत्माको बचाना दया है। किसी प्राणीको अपनी ओरसे पीड़ा न देना, हिंसा न करना दया है। भूखेको, प्यासेको, दीन-दुखीको भौतिक सहायता अथवा शारीरिक सहयोग द्वारा तकलीफसे छुड़ाना भी लोकमें दया या अनुकम्पा कहा जाता है।

यहां समझनेकी बात यह है— समाजमें जो व्यक्ति रहते हैं, उनका आपसमें सामाजिक सम्बन्ध है। एक दूसरेके सहयोग पर उनके जीवन आश्रित हैं। आपसी सहायता, लेनदेन प्रभृति

ऐसे कार्य हैं जो उनके सामाजिक सम्बन्धोंसे जुड़ेहुए हैं। ये अध्यात्म-धर्मके कार्य नहीं, लोक कर्त्तव्यके कार्य हैं। आध्यात्मिक दयामें ये नहीं आते। लौकिक दयामें इनकी गणना होती है, जो मोहजन्य है। इसीलिये लौकिक और लोकोत्तर इस रूपमें दयाके दो भेद हैं। लोकोत्तर दया अध्यात्म-दया है, लौकिक दया मोह-दया है।

जैन-शास्त्रोंमें नमि राजर्षि जो वैदिक ग्रन्थोंमें राजर्षि जनक के नामसे प्रसिद्ध हैं, का उदाहरण आता है। उनकी नगरी मिथिला आग से जलरही थी। इन्द्रने कहा—राजर्ष! मिथिला जलरही है आपकी दृष्टि अमृतमयी है। आगकी शान्तिके लिए आप इस ओर देखें। विरक्त राजर्षि बोले—

"मिथिलायां दह्यमानायां, न मे दहति किञ्चन।"

अर्थात् मिथिला जलरही है, इसमें मेरा क्या जलता है। यह पहुँचे हुए योगी और विरक्तकी वाणी है।

इस प्रकार अहिंसा, दया व अनुकम्पा तत्त्वतः एक ही है।

[४-१०-५३ केवल-भवन, मोती-चौक, जोधपुर]

आत्म-धर्म और लोक-धर्म

भारतीय साहित्य में धर्म शब्द का बहुत तरह से प्रयोग हुआ है। इसकी बहुत सी व्याख्यायें हमें मिलती हैं, जो इसके भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रगट करती हैं। जहां एक जगह आत्मशुद्धि के साधन या मोक्षोपाय के रुप में इसका प्रयोग हुआ है, दूसरी जगह लोक-मर्यादा, समाज-व्यवस्था, सामाजिक नीति, नागरिक कर्त्तव्य, सैनिक कर्त्तव्य, राजदंड प्रभृति अर्थों में यह आया है। आत्मशुद्धि का साधन और लोकव्यवस्था के ये कार्य सर्वथा एक नहीं होसकते। ये जीवन के भिन्न पहलू हैं अतः केवल धर्म शब्दके प्रयोगमात्र से ही एक विशेष धारणा कोई बनाले, यह उचित नहीं। यह बारीकी से समझने का विषय है।

धर्म शब्द के अवसक के इतिहास और प्रयोग को देखते उसे हम स्थूलरूपमें दो भागों में बांट सकते हैं—आत्म-धर्म और लोक-धर्म। सामाजिक व्यक्ति या नागरिक के जो भी कर्त्तव्य

है—जैसे व्यवसाय करना, परिवार का लालन-पालन करना, राष्ट्र-रक्षा के लिए युद्ध में भाग लेना, वंश-परिचालन के लिए विवाह करना, परिवार-पोषण के लिए धन का संग्रह करना ये सब लोक-धर्म के अन्तर्गत हैं। आत्म-धर्म या मोक्ष का मार्ग इससे भिन्न है। उसमें धन-संचय को स्थान नहीं, अपरिग्रह का महत्त्व है। वंश-परिचालन के बदले ब्रह्मचर्य और तपस्या का विधान है। परिवार के लालन-पालन के स्थान पर "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श को ले विश्व में समता, मैत्री व बन्धुता के प्रसार का लक्ष्य है।

गीता के प्रसिद्ध भाष्यकार श्री लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य में इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लोक-धर्म और आत्मधर्मका स्पष्ट अंतर स्वीकार किया है। उन्होंने बताया कि पारमार्थिक धर्म मोक्षधर्म है, [illegible] सारे कार्य जो लोक-धर्मके अन्तर्गत आते हैं, सामाजिक [illegible] हैं, नीति' है।

बहुतसे व्यक्ति धर्म शब्दसे [illegible] जाते हैं। उदाहरणार्थ—एक छोटासा सामाजिक कार्य किया, एक सामाजिक [illegible] एक गिलास पानी पिलादिया, किसी भूखेको एक रोटीका [illegible] देदिया, समझने लगे—उन्होंने बड़ा भारी धर्म कमालिया, यह नहीं समझते कि एक [illegible] भाईके नाते [illegible] उनके दान या धर्मका पात्र [illegible] वह तो सहयोगका [illegible] है। सामाजिक कर्त्तव्य, [illegible] का नागरिक [illegible]

गीतारहस्य पृष्ठ ६४[illegible]

नाते यदि इतनासा सहयोग भाईका करदिया तोकौनसा बड़ा कार्य किया, अपना कर्त्तव्य निभाया।

आत्म-धर्म और लोक-धर्ममें मुख्य अंतर है--आत्म-धर्म आत्म-शुद्धिका साधन है। यह अहिंसा और सत्यके माध्यमसे चलता है। जबकि लोक-धर्ममें अनिवार्य आवश्यकताके प्रसंगमें अहिंसा और सत्यके विरुद्ध भी आचरण होता है। आत्म-धर्म शाश्वत है, अपरिवर्तनीय है। उसका मूल स्वरूप कभी बदलता नहीं पर लोक-धर्म देश, काल, परिस्थिति आदिके अनुसार सदा बदलता रहता है। आत्मधर्म मानवमात्रके लिए, प्राणीमात्रके लिए समान है जबकि लोक-धर्मके भिन्न-भिन्न स्तर हैं। अपने अपने कार्य क्षेत्रके अनुसार भिन्न-भिन्न रुप रेखाएँ उसकी हैं। इस प्रकार दोनोंमें मौलिक अंतर है। संक्षेपमें—आत्म-धर्म आत्म-साधना का प्रतीक है, मुक्तिका साधन है। लोक-धर्म लोक-मर्यादाका निर्वाहक है। लोकमें रहनेवालोंके लिए यह आवश्यक माना जाता है।

[ता० ७-१०-५३ केवलभवन, मोतीचौक, जोधपुर]

आह्वान

आज देशमें जन-जागरण की आवश्यकता है। मैं साहित्यकारों तथा कवियों से कहूंगा—वे अपनी ओजस्विनी वाणी से जन-जन के अंतरतम को झंकृत कर दें, उनमें ऐसी प्रेरणा भरदें कि जीवनको बर्बाद करदेनेवाली बुराईयोंसे अपनेको छुड़ा भलाई, भलाई, न्याय और नीतिके राजमार्ग पर वे आसकें। आज जन-जनमें नैतिक जागृति तथा आचार-शुद्धिके प्रति निष्ठा जागृत करनी है, रसातलको जातीहुई मानवताको बचाना है। कवियों एवं साहित्य-स्रष्टाओं पर इसका भारी उत्तरदायित्व है। क्या मैं आशा करूं—अपने उत्तरदायित्वको निभानेमें वे कोई कसर नहीं छोड़ेंगे?

अणुव्रत-आन्दोलन इसीतरहका एक उपक्रम है, जिसे अपनाकर लोग जीवन-विकास व नैतिक निर्माणका रास्ता पासकें। मैं कवियों एवं साहित्यस्रष्टाओंसे यह भी चाहूंगा कि वे इस चरित्र-

निर्माणके रचनात्मक कार्यक्रमको जन-जन तक पहुंचानेमें सह-योगी बनें।

इस अवसर पर मैं देशके सन्तों, महन्तों एवं सन्यासियोंसे भी कहना चाहूंगा—वे अपने मठों और पीठोंका मोह छोड़ जन-जनमें नैतिक चेतना व चारित्रिक जागृतिका मन्त्र फूंकें। राष्ट्र उनकी तरफ आशा भरे नेत्रोंसे निहाररहा है।

[अणुव्रतीसंघ-चतुर्थ-वार्षिक-अधिवेशनके अन्तर्गत ता० १७-१०-५३ को आयोजित कवि-सम्मेलन के अवसर पर]

दीपावली—

भगवान् महावीर का निर्वाण

पर्व दिन या त्यौहार किसी राष्ट्रकी सांस्कृतिक चेतना व आत्मिक स्फूर्तिके उद्बोधक हैं। दीपावली भी एक ऐसा ही पर्व दिन है, जो भारतीय आदर्शोंका गौरवपूर्ण इतिहास लिये प्रतिवर्ष आता है। भारतीय जीवनमें परिग्रह और वैभव ऊंचेपनकी निशानी नहीं मानी गई। त्याग, संयम, साधना व आचार ही वे साधन हैं; जिन्हें भारतीय परम्परामें ऊंचेसे ऊंचा स्थान प्राप्त हुआ।

जैन-परम्परानुसार दीपावली इन्हीं त्याग, संयम व अपरिग्रहवृति आदि सद्गुणोंका संस्मारक दिवस है। आजके दिन भगवान महावीरने निर्वाण प्राप्त किया। आत्म-उत्थान तथा जन-निर्माणके जिस महान् लक्ष्यको लिए भगवान् महावीरने राजपाट, वैभव-विलास व धन-संपत्तिको ठुकरा त्याग और साधनाका

दीपावली—

भगवान् महावीर का निर्वाण

पर्व दिन या त्यौहार किसी राष्ट्रकी सांस्कृतिक चेतना व आत्मिक स्फूर्तिके उद्बोधक हैं। दीपावली भी एक ऐसा ही पर्व दिन है, जो भारतीय आदर्शोंका गौरवपूर्ण इतिहास लिये प्रतिवर्ष आता है। भारतीय जीवनमें परिग्रह और वैभव ऊंचेपनकी निशानी नहीं मानी गई। त्याग, संयम, साधना व आचार ही ये साधन हैं; जिन्हें भारतीय परम्परामें ऊंचेसे ऊंचा स्थान प्राप्त हुआ।

जैन-परम्परानुसार दीपावली इन्हीं त्याग, संयम व अपरिग्रहवृति आदि सद्गुणोंका संस्मारक दिवस है। आजके दिन भगवान महावीरने निर्वाण प्राप्त किया। आत्म-उत्थान तथा जन-निर्माणके जिस महान् लक्ष्यको लिए भगवान् महावीरने राज्य-वैभव-विलास व धन-संपत्तिको ठुकरा त्याग और ...

मार्ग अपनाया, आजके दिन वह पूरा हुआ। उन्होंने आत्म-लक्ष्मीका वरण किया। संयमकी जाज्वल्यमान ज्योतिसे अमावस्याकी अंधेरी रात जगमगा उठी। आत्म-समरके महान् योद्धा को विजय-श्रीकी प्राप्ति हुई। यह दिन सदाके लिए एक ऐतिहासिक दिन बन गया।

अहिंसाका ज्योंही स्मरण करते हैं, भगवान् महावीर तुरन्त स्मृति-पथ पर आ जाते हैं। वर्गहीन, जातिहीन, ममतामूलक समाजकी ज्योंही कल्पना करते हैं, भगवान् महावीरका मूर्तिमान चित्र हमारे सामने आ जाता है। हिंसक वृत्तियोंके अनवरत आघातोंसे जर्जरित बने मानव-समाजको भगवान् महावीरने अहिंसाका पाठ पढ़ाया। जातिवाद तथा ऊँच-नीचकी भूलभूलैयामें फंसे मनुष्योंको उन्होंने संदेश दिया—जन्ममात्रसे कोई ऊंचा या पूजनीय नहीं होता। ऊंचापन ऊंचे कामोंमें है चाहे कोई भी करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यके घरमें जन्मने मात्रसे कोई ऊंचा हो जाय और शूद्रके यहाँ जन्म लेना ही किसीके नीचेपनका कारण हो, यह कहांका न्याय है। विषमता, रूढ़िवाद और हिंसाके जंजालमें जकड़े मानव-समाजके लिए उनका यह क्रान्तिकारी संदेश था, जिसने जादूका सा असर किया। फलतः जातिवादके बंधन ढीले हुए, हिंसाका बातूल अहिंसाकी दुर्दम शक्तिसे तिरोहित हो उठा।

दीपावली के इस सांस्कृतिक पर्व के उपलक्षमें मैं जन-जनसे कहूंगा कि वे अपनी आत्माके मैलका परिमार्जन कर शोषण,

भ्रष्टाचार जैसी असद्वृत्तियोंको तिलांजलि देनेके लिए दृढ़प्रतिज्ञ हों। त्याग, सफाई व समताके दीपक संजोएं। जीवनव्यापी अंधेरा दूर होगा, सच्ची ज्योति दर्शन होंगे। सही मानेमें दीपावली की यही मनौती है।

[ता० ६-११-५३ दीपावली जोधपुर]

विकास या ह्रास

जैसाकि लोग मानते हैं—आज संसारने बड़ा विकास किया है, वैज्ञानिक आविष्कारोंके जरिये वह बहुत आगे बढ़ा है पर मेरी राय इसके विपरीत है। मेरा कहना है—आज संसारने विकास नहीं बल्कि ह्रास किया है और दिन पर दिन ऐसा करता जारहा है। विज्ञानजन्य यान्त्रिक सुविधाओंका परिणाम यह हुआ कि मानव पंगु बन गया, उसकी आत्मनिर्भरता जाती रही। उसका आज चलना, फिरना, बोलना आदि सब परावलंबनसे अभिभूत होगया। दो कदम चलना होगा तो भी उसे मोटर चाहिएगी, पांच सौ आदमियोंके बीच बोलना होगा तो भी वह माइकके बिना अपनेको असमर्थ पायेगा। तिस पर भी आजका मानव यह दम भरता है कि उसने प्रगतिकी है।

इस तथाकथित प्रगति या विकासका दूसरा परिणाम यह हुआ मानव भौतिकवादकी चकाचौंधमें इस कदर उलझा कि

अपने आपको भी वह भुला बैठा। अपने जीवनको वह देखे, अन्तरतमको टटोले—आज इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता है।

भोग-लिप्सा, विषय-वासना और स्वार्थोंकी भट्ठीमें मानवका सत्त्व आज भस्मसात् हुआ जारहा है। उसे अपने सत्त्वकी रक्षा करनी है। इसके लिए उसे आत्मानुशीलन एवं संयमके पथ पर आना होगा।

यद्यपि यह सच है कि हर व्यक्ति अपना जीवन पूर्ण संयमी नहीं बनासकता पर उसका प्रयत्न यह रहे कि खाना, पीना, चलना, फिरना, देखना आदि जीवनकी हर प्रक्रियामें संयम हो। संयमित जीवन-चर्या ही सच्ची स्वतन्त्रताकी निशानी है। अध्यापक, जिन पर जन-निर्माणका, राष्ट्र-निर्माणका भारी उत्तरदायित्व है, संयमित जीवन-चर्याका अभ्यास करें। जीवनको व्यवस्थित तथा स्वावलम्बी बनायें।

आज साक्षरताके लिए जितना प्रयास है, चारित्र्य एवं सदाचारकी शिक्षाके लिए उतना नहीं। शिक्षाधिकारियों एवं शिक्षकोंको इस ओर जागरूक रहते हुये इस पर विशेष ध्यान देना है। ध्यान रहे—चारित्र्य एवं सदाचारशून्य विद्या केवल भार है।

[ता० १२-११-५३ जे० टी० सी० टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल, विद्याशाला, जोधपुर,]

जीवनका आलोक

अहिंसा जीवनका आलोक है, हिंसा जीवनका विकार। स्व सत्-चित् और आनन्दकी अनुभूति ही अहिंसा है। दूसरोंकी सत्ता, चित् और आनन्दका अपहरण हिंसा है। मनुष्यकी महत्त्वाकांक्षा स्वतः स्वोन्नयनकी ओर प्रवृत्त न होकर परतः स्वोन्नयनकी ओर प्रवृत्त होती है। यही पर-स्वके स्वीकरणकी वृत्ति हिंसाका बीज है।

जीवन-निर्वाहके साधनोंका केन्द्रीकरण हुआ, फलतः शोषण बढ़ा, हिंसा बढ़ी।

पदार्थोंका विस्तार हुआ, फलतः परिभोग बढ़ा, लालसाएं बढ़ीं।

पाशविक शक्तिका विकास हुआ, फलतः महायुद्ध बढ़े, अशान्ति बढ़ी, कठिनाइयाँ बढ़ीं।

विश्वशान्तिके लिए यह अपेक्षा है कि :—

(१) युद्ध न हो।

(२) लालसाएं सीमित रहें।

(३) शोषण न रहे।

किन्तु गति इसके विपरीत मिलती है।

राष्ट्र-उन्नतिके लिए केन्द्रीकरणको प्रोत्साहन मिलता है। जीवन-स्तरको ऊंचा उठानेके लिए अधिक परिभोगको और शक्ति-संतुलनके लिए पाशविक शक्तिको उत्तेजन मिलता है। कारणको जीवित रखकर उसका परिणाम टालना चाहते हैं—यह वर्तमान युगका विशेष वातावरण है।

रोगकी जड़ यह है कि हमारा चिन्तन-बिन्दु चैतन्य नहीं, किन्तु पदार्थ बन रहा है। उन्नति, विकास, सभ्यता और संस्कृतिकी सारी मर्यादाएं उसीको माध्यम मानकर चलती हैं।

वैज्ञानिक स्थितियोंके फलस्वरूप युगमें नव-जागरण आया है। हिंसा और संघर्षोंके फलोंसे ऊबता कर आजका मनुष्य अहिंसाकी ओर मुड़ा है। यहां हम पर, अहिंसावादियों पर एक उत्तरदायित्व आता है। वह यह कि हम उस मोड़को आगे बढ़ायें। अपनी सारी प्रवृत्तियोंको अहिंसामें केन्द्रित कर वातावरणको प्रेममय बना डालें।

अहिंसकोंको इसके लिए बलिदान करना होगा, त्यागना होगा—संग्रहका मोह, संग्रहकी भित्ति पर टिकनेवाले बड़प्पनका मोह। ज्योंही शोषण और संग्रहकी भावना टूटेगी प्रेमका वातावरण बढ़ेगा।

हिंसाके पीछे लोक-संग्रहकी शक्ति है। अहिंसाके पास वह नहीं। वह केवल प्रेमके बल पर टिकी हुई है और रहेगी।

अहिंसाने क्या किया ? यह अवसर इस पर उलझनेका नहीं है। अहिंसा विशेष प्रचार नहीं पा सकी फिर भी वह अपनी सत्तामात्रसे सफल है। यदि ऐसा नहीं होता तो हिंसाके अद्वैत में हमें द्वैत मिलता ही नहीं।

अणुव्रत-आन्दोलनका साध्य है—अहिंसाकी मात्रा बढ़े। इसी उद्देश्यसे अहिंसा-दिवस मनानेकी भावना इससे जुड़ी हुई है। अहिंसा और अ-शोषणकी नींव पर समाजकी पुनर्-रचना होगी तभी कल्याण होगा। इस पुण्य-अनुष्ठानमें अहिंसा कर्मियोंका सहयोग सफल बने—मैं यही चाहता हूं।

[ता० १५-११-५३ को कौन्स्टीट्यूशन क्लब नई दिल्लीमें भारतीय लोकसभाके अध्यक्ष माननीय जी० वी० मावलंकरकी अध्यक्षतामें आयोजित अहिंसा दिवसके अवसर पर]

वे आज कहाँ ?

संसारमें न जाने कितने व्यक्ति आये और चले गये। आज उनका नाम निशान भी नहीं रहा। वे बड़े-बड़े सम्राट् तथा सत्ताधीश, पराक्रम एवं वैभवके गर्वसे जिनके पैर धरती पर नहीं टिकते थे, आज कहाँ हैं ? कराल कालके प्रबल प्रवाहमें अदने तिनकोंकी तरह वे बह गये। पर व्यक्तिके जीवनमें कुछ ऐसे सत्य भी होते हैं, व्यक्तिके मिट जाने पर भी जो युग-युग तक उसके व्यक्तित्वको जीवित रखते हैं। अतः हर व्यक्तिके यह ध्यान देने की बात है कि वह जीवनमें उन अमर सत्योंको जागृत करे, जिससे उसका संसारमें पैदा होना सारवान् हो। वे अमर सत्य हैं—अहिंसा, सचाई, मैत्री, भ्रातृभाव, प्रेम और सद्भावना। इनके बिना जीवन उसी तरह नीरस है जिस तरह नमकके बिना भोजन। हर व्यक्ति अपनेको देखता रहे और सचेष्ट रहे कि उसे अपने जीवनमें इन सद्गुणोंको ढालना है।

हिंसाके पीछे लोक-संग्रहकी शक्ति है। अहिंसाके पास वह नहीं। वह केवल प्रेमके बल पर टिकी हुई है और रहेगी।

अहिंसाने क्या किया ? यह अवसर इस पर उलझनेका नहीं है। अहिंसा विशेष प्रचार नहीं पा सकी फिर भी वह अपनी सत्तामात्रसे सफल है। यदि ऐसा नहीं होता तो हिंसाके अद्वैत में हमें द्वैत मिलता ही नहीं।

अणुव्रत-आन्दोलनका साध्य है—अहिंसाकी मात्रा बढ़े। इसी उद्देश्यसे अहिंसा-दिवस मनानेकी भावना इससे जुड़ी हुई है। अहिंसा और अ-शोषणकी नींव पर समाजकी पुनर्-रचना होगी तभी कल्याण होगा। इस पुण्य-अनुष्ठानमें अहिंसा कर्मियोंका सहयोग सफल बने—मैं यही चाहता हूं।

[ता० १५-११-५२ को कोन्स्टीट्यूशन क्लब नई दिल्लीमें भारतीय लोकसभाके अध्यक्ष माननीय जी० वी० मावलंकरकी अध्यक्षतामें आयोजित अहिंसा दिवसके अवसर पर]

वे आज कहाँ ?

संसारमें न जाने कितने व्यक्ति आये और चले गये। आज इनका नाम निशान भी नहीं रहा। वे बड़े-बड़े सम्राट् तथा सत्ताधीश, पराक्रम एवं वैभवके गर्वसे जिनके पैर धरती पर नहीं टिकते थे, आज कहाँ हैं ? कराल कालके प्रबल प्रवाहमें अदने तिनकोंकी तरह वे बह गये। पर व्यक्तिके जीवनमें कुछ ऐसे सत्य भी होते हैं, व्यक्तिके मिट जाने पर भी जो युग-युग तक उसके व्यक्तित्वको जीवित रखते हैं। अतः हर व्यक्तिके यह ध्यान देने की बात है कि वह जीवनमें उन अमर सत्योंको जागृत करे, जिससे उसका संसारमें पैदा होना सारवान् हो। वे अमर सत्य हैं—अहिंसा, सचाई, मैत्री, भ्रातृभाव, प्रेम और सद्भावना। इनके बिना जीवन उसी तरह नीरस है जिस तरह नमकके बिना भोजन। हर व्यक्ति अपनेको देखता रहे और सचेष्ट रहे कि उसे अपने जीवनमें इन सद्गुणोंको ढालना है।

अब तकका इतिहास इस बातका साक्षी है कि लोग ज्यों ज्यों विकारोंमें पड़े, अनीतिमें आये, उनकी जातियोंकी जातियां बर्बाद होगईं, वे अधिकारच्युत होगये, उनकी प्रतिष्ठा जाती रही। कहनेकी जरूरत नहीं—शराब जैसी बुरी आदतोंने लोगोंका कितना बिगाड़ किया। इन बुरी वृत्तियोंमें पड़ मानव कर्त्तव्यहीन बना जिसका परिणाम विपत्तिके सिवाय और हो क्या सकता है। आज भी लोग चेतें, शराब मांस जैसे दूषित व तामसिक पदार्थोंका त्याग करें। मुझे आश्चर्य होता है—जब खाने पीनेकी इतनी सुस्वादु तथा सुपुष्ट वस्तुएं उपलब्ध हैं तब भी मानव इन जघन्य वस्तुओंके भोगोपभोगमें पड़ अपनेको गिराता जा रहा है। हुआ सो हुआ, अब भी वह सही रास्ते पर आवे, यदि वह जीवनको ऊंचा उठाना चाहता है।

जीवन जैसे स्वर्णिम पात्र का लोग धूल ढोने में प्रयोग न करें। वह तो वह बहुमूल्य पात्र है जिसमें सद् ज्ञान सत् आचरण जैसे अमूल्य पदार्थ रखेजाने चाहिएं। मुझे आशा है, आप मेरे विचारों पर गौर करेंगे, उन्हें जीवन में उतारने को जागरूक होंगे।

ता० २७-११-५३ छितर पैलेस, (उम्मेद भवन) जोधपुर